।। श्रीः ।।

संस्कृत शोध-प्रविधि

SANSKRIT RESEARCH METHODOLOGY

लेखक

प्रो. प्रभुनाथ द्विवेदी

पूर्व आचार्य, संस्कृत-विभाग,

महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ,

वाराणसी.

सहलेखक

डॉ. सुरेशचन्द्र चौबे

असि. प्रोफेसर, संस्कृत-विभाग,

महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ,

वाराणसी.

प्रकाशक

शारदा संस्कृत संस्थान

वाराणसी

२०१४

प्रकाशक -
शारदा संस्कृत संस्थान
सी. २७/५९ जगतगंज, वाराणसी- २२१००२
दूरभाषः - (०५४२) २२०४१६८
E-mail:sharadabhawan@yahoo.co.in
Website-www.sharadasansthan.in

ISBN : 978-93-81999-46-2

द्वितीय संस्करण : २०१७ ई
मूल्य : [illegible]/-

मुद्रक :
आनन्दकानन प्रेस
डी. 14/65, टेढ़ीनीम
वाराणसी - 221001
फोन : (0542) 2392337

आमुख एवम् आभार

विगत कई वर्षों से शोधच्छात्रों के लिए शोधप्रविधि का अध्ययन अनिवार्य कर दिया गया है। एम.फिल्. और पीएच.डी. के पाठ्यक्रमों में शोधप्रविधि का एक प्रश्नपत्र निर्धारित है और यह भारतवर्ष के प्रायः सभी विश्वविद्यालयों में समान रूप से लागू है।

परम्परागत तथा आधुनिक पद्धति से संस्कृत का अध्ययन और शोध करने वाले छात्रों के लिए शोधप्रविधि कुछ वर्ष पूर्व तक एक नूतन विषय था। उस समय केवल विद्यार्थी-शोधार्थी ही नहीं अपितु विद्वान् अध्यापक गण भी इस विषय से अनभिज्ञ थे। इसलिए जब पाठ्यक्रम लागू हुआ, तब इसे लेकर पदे-पदे समस्याएँ खड़ी थीं। उपयुक्त पाठ्यक्रम का निर्माण और अध्यापन सर्वप्रमुख समस्या थी। इस विषय पर पुस्तकें भी प्रायः नहीं के बराबर थीं। मेरे विभाग में (संस्कृत-विभाग, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी) एम.फिल्. का अध्यापन आरम्भ होने पर 'शोधप्रविधि' के अध्यापन का दायित्व मुझे दे दिया गया। मैंने इसे चुनौती के रूप में स्वीकार किया। प्रारम्भिक दशा में एतद्विषयक सहयोग करने वालों में आदरणीय डॉ. उमाशङ्कर शर्मा 'ऋषि' (आचार्य एवं अध्यक्षचर, संस्कृत-विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना) अग्रणी हैं। मैं उनका अतिशय कृतज्ञ हूँ। फिर तो, संस्कृत शोध-प्रविधि और पाण्डुलिपि सम्पादन मेरा प्रिय विषय हो गया।

अध्यापन-अनुभव तथा पाठ सामग्री के सञ्चयन और निर्माण के आधार पर संस्कृत शोध-प्रविधि विषयक एक व्यावहारिक पाठ्यपुस्तक लिखने के लिए अनेक मित्रों ने आग्रह किया। इस पुस्तक के लेखन में मेरे विभागीय सहयोगी डॉ. सुरेश चन्द्र चौबे ने उल्लेख्य योगदान किया। परम श्रद्धेय गुरुवर्य प्रो. अमरनाथ पाण्डेय जी का आशीर्वाद तो मिला ही, प्रो. विद्याशङ्कर त्रिपाठी, प्रो. यदुनाथ प्रसाद दुबे ने भी सतत प्रेरणा दी। सामग्री सङ्कलन में प्रिय डॉ. विवेक पाण्डेय और डॉ. उपेन्द्र देव पाण्डेय ने भी सक्रिय सहयोग किया। अनेक दूरस्थ मित्रों से दूरभाष के माध्यम से उपयोगी सूचनाएँ प्राप्त करता रहा। इस प्रकार, सबके साहाय्य और भगवान् विश्वनाथ की कृपा से यह कार्य पूरा हुआ। श्रद्धेय गुरुवर्य और भगवान् विश्वनाथ को प्रणति निवेदन करते हुए उपर्युक्त सभी महानुभावों के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ।

मैंने इस पुस्तक के लेखन में आदरणीय प्रो. अभिराज राजेन्द्र मिश्र द्वारा प्रणीत 'शोध प्रविधि एवं पाण्डुलिपि विज्ञान' से यथावसर अयाचित सामग्री ग्रहण की है। मैं उनके प्रति अतिशय आभारी हूँ।

शारदा संस्कृत संस्थान के सञ्चालक प्रिय अनुज डॉ. विनोद राव पाठक ने आग्रहपूर्वक इसका प्रकाशन किया, एतदर्थ उनको हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

यह पुस्तक शोधार्थियों के लिए उपयोगी होगी- इस विश्वास के साथ,

वाराणसी
१५ अगस्त, २०१४ ई.

विदुषां वशंवद,
प्रभुनाथ द्विवेदी

विषयानुक्रम

१

प्रथम अध्याय

सामान्य शोध-प्रविधि

नमः सत्त्वप्रपन्नाय सत्यसन्धाय धीमते।
शोधार्थिने समर्थाय तत्त्वोन्मीलनदृष्टये।।
प्रयामि शरणं नित्यं श्रीगुरोश्चरणाम्बुजम्।
यद्रजःस्पर्शमात्रेण शुष्यति विघ्नसम्प्लवः।।

शोध एवम् उसके पर्याय

शुध्+घञ् = शोध। शोध का मूल अर्थ है- शुद्धि या संस्कार। किसी भी वस्तु का शोध करना- उसमें मिले हुए अपद्रव्यों अथवा विजातीय वस्तुओं को अलग करके वस्तु के वास्तविक स्वरूप को प्रकाशित करना 'शोध' या शोधन कहलाता है। यथा- स्वर्ण-शोध, लौह-शोधन, सभी प्रकार के खनिज पदार्थों का शोधन। इसी प्रकार, कृषि कार्य में मृत्तिका-शोध, फसलों के लिए बीज-शोधन, खड़ी फसल से खर-पतवार निकाल कर उनका शोधन- 'कृषी निरावहिं चतुर सुजाना'। गेहूँ के साथ उगने वाला एक विजातीय पौधा (घास) हूबहू गेहूँ जैसा ही दिखाई पड़ता है। उसे 'गेहूँ का मामा' कहा जाता है। इसी प्रकार की एक घास धान के पौधे की ही तरह होती है, उसे 'डँवरा' या 'डौंरा' कहते हैं। गेहूँ या धान से इन्हें वही अलग कर सकता है जिसे इनकी पहचान हो। पकी हुई फसल को खेत से खलिहान, खलिहान से घर में लाने और फिर उसे पकाने या पीसने के लिए चक्की पर ले जाने के दौरान निरन्तर शोधन या शोध क्रिया चलती रहती है। जल का भी शोधन किया जाता है- 'वस्त्रपूतं पिबेज्जलम्'।

'संगति करे जानि के, पानी पीये छानि के।' कहने का तात्पर्य है कि जीवन

के प्रत्येक क्षेत्र में- आहार में, व्यवहार में, वाणी और विचार में- सब में पदे-पदे शोध करना पड़ता है। हमारे संस्कार कर्म प्रकारान्तर से शोध कर्म ही हैं।

ज्यों-ज्यों मानव का विकास हुआ, ज्ञान-विज्ञान के विषयों का विस्तार हुआ, 'शोध' शब्द का अर्थोत्कर्ष अथवा अर्थ विस्तार हुआ। अब 'शोध' का अर्थ मात्र शोधन या शुद्धीकरण नहीं रह गया अपितु उसका अर्थ व्यापक अभिप्राय में प्रयुक्त होने लगा। वह 'खोज' का भी अर्थ देने लगा। किसी विषय की गहराई में जाकर सम्यग् विचारपूर्वक उसके मर्म या रहस्य का उद्घाटन, तत्त्वोन्मीलन तथा उसका व्यवस्थित प्रतिपादन भी 'शोध' कहा जाने लगा। यह शोध मात्र विषय से न जुड़कर अपितु देश, काल और व्यक्ति से भी सम्बद्ध हो गया। उसकी अनेक दिशायें और अनेक आधार अतः अनेक प्रकार हो गये। शोध (के अर्थ) को बहुआयामी बनाने के लिए अनेक पर्यायों (प्रायः समकक्ष शब्दों) का भी प्रयोग होने लगा। आइए, **शोध** के पर्याय के रूप में प्रयुक्त होने वाले कुछ प्रमुख शब्दों पर दृष्टिपात करें।

अनुसन्धान - अनु और सम् उपसर्गपूर्वक 'धा' धातु से ल्युट् प्रत्यय करने पर 'अनुसन्धान' शब्द बनता है। इस शब्द में 'अनु' का अर्थ है- 'पश्चात्' या 'पीछे से' और 'सन्धान' के कई अर्थों में से एक अर्थ है लक्ष्य भेदन करने के लिए चढ़ी हुई प्रत्यञ्चा वाले धनुष पर बाण को चढ़ाना या साधना। इस अर्थ में महाकवि कालिदास ने 'सन्धान' का प्रयोग किया है- 'तत्साधुकृतसन्धानं प्रतिसंहर सायकम्।'[१] 'सन्धान' के पूर्व 'अनु' लगाने से बने हुए 'अनुसन्धान' का अर्थ हुआ कि जब तक लक्ष्यभेदन सिद्ध न हो जाय तब तक बार-बार (एक बाण के पश्चात् दूसरा बाण, दूसरे के पश्चात् तीसरा...) धनुष पर बाण साधना। धनुर्विद्या का अभ्यास करने वाले के बाण लक्ष्य से भटक कर इधर-उधर जा पड़ते हैं। उन बाणों को बार-बार खोजना और एकत्र करना पड़ता है और यदि महर्षि जमदग्नि की तरह[२] केवल एक ही बाण पास में हो तो उस बाण को बार-बार ढूँढ़ कर लाना अनिवार्य हो जाता है। इसीलिए अनुसन्धान को अंग्रेजी भाषा में 'Research' कहते हैं। सम्भवतः महर्षि जमदग्नि के इस वृत्तान्त से प्रभावित होकर प्रो. रहस बिहारी द्विवेदी ने Research (रीसर्च) के

१. अभिज्ञानशाकुन्तल, १/११.

२. पुराणों में महर्षि जमदग्नि का वृत्तान्त उपलब्ध होता है। वे एक ही बाण का प्रयोग करते हुए धनुर्विद्या का अभ्यास कर रहे थे। उनके द्वारा चलाये गये बाण को उनकी धर्मपत्नी रेणुका बार-बार जाकर लाती थी।

लिए संस्कृत में एक मिलता-जुलता शब्द 'ऋषिचर्या' प्रयुक्त किया है। इस शब्द को 'शोध' के सन्दर्भ में व्यवस्थित करने के लिए उन्होंने प्राचीन काल के ऋषियों की तत्त्व-साक्षात्कार हेतु की जाने वाली साधना का उल्लेख किया है।[३]

वर्तमान में 'अनुसन्धान' को 'शोध' के निकटतम पर्याय (समानार्थवाचक शब्द) के रूप में व्यवहृत किया जा रहा है। इस प्रकार, शोधकर्ता जब अपने स्वोपज्ञ चिन्तन के द्वारा किसी विषय का सम्यग् विमर्श करके, अनुचिन्तन करके प्रामाणिक तथ्यों के आधार पर किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचता है; अपनी पूर्व परिकल्पना के आधार पर लक्ष्य तक पहुँचता है, तो उस पूरी प्रक्रिया को 'अनुसन्धान' कहा जा सकता है। शोधकर्ता/शोधकर्त्री के लिए अनुसन्धाता/अनुसन्धात्री शब्द का प्रयोग होता है।

गवेषणा - 'गवेष्' धातु का अर्थ है- ढूँढ़ना, खोजना, तलाशना आदि। इस धातु में 'ल्युट्' प्रत्यय लगाने पर 'गवेषणम्' और 'युच्+टाप्' प्रत्ययों को लगाने पर 'गवेषणा' शब्द बनता है जिसका अर्थ है- किसी वस्तु की खोज या तलाश। इसका अभिप्राय यह है कि उस वस्तु का ज्ञान पूर्वतः है किन्तु वह कहीं छिपी है, दिखाई नहीं दे रही है अतः उसे खोजना पड़ता है। अपने द्वारा ही रखी हुई वस्तु को उसकी अनुपस्थिति में ढूँढ़ना और भी मुश्किल है। सांख्यशास्त्र में लब्धसत्ताक वस्तु की अनुपलब्धि के कई कारण बताये गये हैं-

अतिदूरात्सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात्।
सौक्ष्म्याद् व्यवधानादभिभवात्समानाभिहाराच्च।।

(सांख्यकारिका, ७)

अर्थात्, वस्तु के अत्यन्त दूर होने से, अत्यन्त समीप होने से, तद्विषयक ज्ञानेन्द्रिय के विकृत होने से, मन की अनवस्था से, अत्यधिक सूक्ष्म होने से, किसी बाधा (आड़) से, अभिभूत होने से और समानवस्तु में मिल जाने से (उपस्थित भी वस्तु की प्राप्ति नहीं होती)। अतः, उसे उपायान्तर से खोजना पड़ता है, प्राप्त करना होता है।

३. ऋषिचर्या पुरा राष्ट्रे तत्त्वसाक्षात्कृतौ श्रुता।
मन्ये रिसर्च शब्दोऽयमृषिचर्योद्भवः समः।।
ऋषिचर्या रिसर्चाऽऽङ्ग्लशब्दभावावबोधिका।
तत्त्वसाक्षात्कृतिर्नूनमुभयत्र समप्रथा।। - प्रो. रहस बिहारी द्विवेदी, साहित्यानुसन्धानावबोध प्रविधिः, पृ. ३ और ४.

कुछ विद्वान् 'गवेषणा' का अर्थ करते हैं- 'गवाम् एषणा' अर्थात् गायों की चाह। दृष्टान्त यह है कि जैसे गायें जंगल में चरते-चरते भटक जाती हैं और उन्हें खोज निकालना पड़ता है, वैसे ही किसी वस्तु या तथ्य को खोजना 'गवेषणा' कहा जाता है। ऋग्वेद के दशम मण्डल में एक सूक्त है- 'सरमा-पणि संवाद' (१०/१०८)। सोमलता का विनिमय करने वाले 'पणि' संज्ञक व्यापारी (अथवा दस्यु) देवगुरु बृहस्पति की गायें बलपूर्वक हाँक ले गये थे। उन्होंने सुदूर देश में ले जाकर उन गायों को गुफा में छिपा दिया था, जहाँ पहुँचना अत्यन्त कठिन था। देवराज इन्द्र की कुतिया सरमा ने उन गायों का पता लगाया (ढूँढ़ निकाला)। यह प्राचीन 'गवेषणा' का एक उदाहरण है। महाकवि कालिदास ने ऋतुसंहार में इस आशय का प्रयोग किया है- 'गवेषणमाणं महिषीकुलं जलम्।' (१/२१)।

'गवेषणा' के लिए आंग्लभाषा का एक शब्द- 'Discover'- उपयुक्त होगा, जिसका अर्थ है- आवरण हटाना, अवरोध हटाना या पर्दा उठाना। इस अर्थ में ईशोपनिषद् का अधोलिखित मंत्र सर्वथा सटीक बैठता है-

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।। (१५)

अर्थात्, स्वर्णमय पात्र (ढक्कन) से सत्य का मुख ढँका हुआ है। हे पूषन्! तुम सत्यधर्म दिखलाने के लिए उसे हटा दो।

सटीक निशाना लगाने के लिए लक्ष्य (Target) पर एक काला गोल निशान बना होता है जिसे अंग्रेजी में- 'Bull's eye' कहा जाता है। 'गवेषणा' का शाब्दिक अर्थ इसे भी स्पर्श कर सकता है। अभिप्राय यह है कि जिस शोध के द्वारा हम एकदम सही लक्ष्य पर पहुँच जाते हैं, वह है 'गवेषणा'।

अन्वेषण - शोध के अर्थ में बहुधा 'अन्वेषण' शब्द का भी प्रयोग होता है। इस शब्द की संरचना है- 'अनु+इष्+ल्युट्' अथवा, अनु+एषणम्। इस शब्द का भी अर्थ है- ढूँढ़ना, खोजबीन करना। एक ही समान अर्थ में कोशों में यह शब्द त्रिधा (तीनों लिङ्गों में) प्राप्त होता है- अन्वेषः (पु.), अन्वेषणम् (नपुं.) और अन्वेषणा (स्त्री.)। तीनों लिङ्गों में प्रयुक्त होकर भी यह 'खोजने' या 'ढूँढ़ने' का ही अर्थ देता है। 'गवेषणा' से 'अन्वेषण' के अर्थ में तनिक भेद है। गवेषणा में पूर्वतः ज्ञात वस्तु खोजी जाती है किन्तु 'अन्वेषण' में जिसे ढूँढ़ा जाता है वह वस्तु पूर्वतः अज्ञात होती है। वस्तु तो दोनों ही स्थितियों में पूर्वतः विद्यमान रहती है क्योंकि जो विद्यमान है ही नहीं उसे कथमपि प्राप्त नहीं किया जा सकता-

'नासतो विद्यते भावो ना भावो विद्यते सतः' (श्रीमद्भगवद्गीता, २-१६) सांख्य के सत्कार्यवाद से यही सिद्ध होता है। 'अन्वेषण' की अन्वर्थता सिद्ध करने वाले न जाने कितने प्रामाणिक वृत्तान्त उपलब्ध हैं। महाकवि कालिदास ने 'अन्वेष' और 'अन्वेषण'- दोनों शब्दों का प्रयोग किया है-

'वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हताः' (अभि.शाकु., १/२४)
'रन्ध्रान्वेषणदक्षाणां द्विषाम्' (रघुवंश, १२/११)

'अन्वेषण' में लगे हुए उपसर्ग 'अनु' का अर्थ 'पश्चात्' या 'पीछे' न होकर, 'साथ-साथ' अथवा 'की ओर' है। अंग्रेजी में इसके लिए उपयुक्त शब्द है- 'Invention'. इस अंग्रेजी शब्द का उच्चारण भी 'अन्वेषण' से मिलता-जुलता है। अन्वेषण में, वैज्ञानिकों की दृष्टि से 'किसी नयी चीज' (वस्तु, सिद्धान्त आदि) का खोजने का भाव अन्तर्गूढ है। जब हम कहते हैं- 'आवश्यकता आविष्कार की जननी है' तो यहाँ आविष्कार निश्चय ही अन्वेषण के अर्थ में है न कि गवेषणा के अर्थ में। सुई से लेकर बड़े-बड़े जहाज, बिजली, टेलीफोन, रेडियो, टेलीविजन, घड़ी, पेन आदि का अन्वेषण हुआ है। कोलम्बस ने नई दुनिया (अमेरिका) का 'अन्वेषण' किया था किन्तु गोताखोरों ने 'टाइटेनिक' नामक समुद्र में डूबे हुए जहाज की 'गवेषणा' की। न्यूटन, आइन्स्टीन, गैलीलियो, केप्लर आदि ने अपने सिद्धान्तों का 'अन्वेषण' किया था। अन्वेषण में (कहने के लिए) कोई नयी चीज खोजी जाती है (हालाँकि वह परमार्थतः नयी होती नहीं है)। अन्वेषण के साथ तनिक विस्मयावह 'चमत्कार' का भाव लगा रहता है। आर्कमिडीज ने जब 'घनत्व' के सिद्धान्त का अन्वेषण किया तो खुशी से उछल पड़ा था। इसी प्रकार, जब साहित्य या ऐसे ही किसी विषय में शोधकर्ता या अध्येता को कोई नयी बात सूझती है तो उसकी यह उपलब्धि 'अन्वेषण' की कोटि में रखी जा सकती है। यथा- रस सूत्र की व्याख्याएँ या ध्वनि सिद्धान्त आदि।

शोध का सामान्य अर्थ - यद्यपि प्रारम्भ में ही 'शोध' शब्द की व्युत्पत्ति के साथ इसके अर्थ पर प्रकाश डाला जा चुका है तथापि वर्तमान शोधकार्यों के परिप्रेक्ष्य में एक बार पुनः इस पर दृष्टिपात करना समीचीन होगा। वेद, व्याकरण, दर्शन, साहित्यादि विषयों में परम्परागत और आधुनिक विधि से सम्प्रति प्रचुर शोधकार्य हो रहा है। इन विषयों में कुछ नया जानने और बताने अथवा ज्ञात तथ्यों को आकर्षक किन्तु सुव्यवस्थित (वैज्ञानिक ढंग से) पुनः स्थापित करने की प्रक्रिया को 'शोध' की मान्यता मिल रही है। शोध का स्वरूप चाहे जो भी निर्धारित किया

जाय, उसका एक शास्त्रीय या सैद्धान्तिक पक्ष तो रहता ही है। कहा भी गया है-

''यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति।
तथा तथा स विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते।।''

अर्थात्, जैसे-जैसे कोई (जिज्ञासु) पुरुष शास्त्र की गहराई में प्रवेश करके उसको और अच्छी तरह समझने लगता है, वैसे-वैसे वहाँ उसको विशिष्ट कोटिक ज्ञान होने लगता है (उससे सम्बद्ध ज्ञान परत-दर-परत खुलने लगता है, रहस्य या मर्म का उन्मीलन होने लगता है) और उस 'विज्ञान' की तथ्यात्मक या सत्यात्मक अनुभूति के कारण उसकी तद्विषयक रुचि (विज्ञान पिपासा) बढ़ने लगती है।

संस्कृत की एक सूक्ति बहुधा विद्वानों के मुख से निकलती हुई सुनी जाती है- ''आदौ शोधस्ततो बोधः प्रबोधस्तदनन्तरम्'' अर्थात् सर्वप्रथम 'शोध' होता है, पुनः सदाचारनिष्ठ और ज्ञानगरिष्ठ गुरु के तद्विषयक उपदेश (शिक्षा) से 'बोध' होता है और अन्त में उसका 'प्रबोध' अर्थात् अनुभूतिमय व्यावहारिक ज्ञान होता है। इस सूक्ति में 'शोध' का प्रयोग प्रारम्भ अथवा साधारण अर्थ में किया है और वह प्रयुक्त है मात्र विषय या प्रमेय के चयन (छँटाई) के अर्थ में। क्योंकि विषय (जिसके सम्बन्ध में शोध करना है) का सही चयन करना भी अपने आप में एक शोध ही हैं। वर्तमान काल में तो यह प्रारम्भिक 'शोध' (विषय चयन) एक समस्या बन गयी है। एक ही विषय या ग्रन्थ पर विभिन्न दृष्टियों से न जाने कितने शोध हो चुके हैं। अतः अब 'शोधपूर्व सर्वेक्षण' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटक हो गया है ताकि पिष्टपेषण न हो, प्रयत्नपूर्वक उससे बचा जाय। इस प्रकार, 'आदौ शोधः' का स्पष्ट अभिप्राय है- प्रमेय का, विषय का चयन (खोज या छँटाई) तथा कृत- शोधकार्य का सर्वेक्षण।

प्रकृत प्रसंग में हमें 'शोध' का जो अर्थ अभीष्ट है, उस दृष्टि से उपर्युक्त सूक्ति में किञ्चित्परिवर्तन करके उसे इस रीति से क्रमबद्ध करने की अपेक्षा है- 'आदौ बोधस्ततः शोधः प्रबोधस्तदनन्तरम्' अर्थात् पहले सामान्य ज्ञान, फिर उस विषय में शोध = गम्भीर मनन, तथ्यात्मक खोज और अन्ततः अनुभूतिमय प्रकृष्ट ज्ञान (गहराई में पैठी हुई समझ)। यह समझ शोध का 'फल' या 'निष्कर्ष' कही जा सकती है।

'यथा यथा हि पुरुषः...।' ज्ञान के इन्हीं तीन स्तरों की बात करता है। 'नैषधीयचरित' में महाकवि श्रीहर्ष ने ज्ञान के चार स्तरों का निर्देश किया है- 'अधीतिबोधाचरणप्रचारणैर्दशाश्चतस्रः प्रणयन्नुपाधिभिः।' (१/४)। इसमें विद्या (ज्ञान) की चार दशाओं = अवस्थाओं का वर्णन है- अध्ययन, बोध, आचरण और प्रचार।

कोई व्यक्ति किसी विद्या या विषय का सर्वप्रथम अध्ययन करता है। फिर उसे उसका बोध = मननान्तर सम्यग् ज्ञान होता है। फिर उस बोध को वह आचरण में उतार कर आत्मानुभूति पूर्वक व्यवहार पुष्ट करता है तब अन्त में उसका प्रचारण = अन्य अधिकारी जनों को उपदेश करता है।

महाकवि हर्ष का यह उल्लेख महाभाष्य के प्रामाण्य से आया है, जहाँ भगवान् पतञ्जलि कहते हैं- ''चतुर्भिश्च प्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवति- आगमकालेन, स्वाध्यायकालेन, प्रवचनकालेन, व्यवहार कालेनेति।'' (महाभाष्य, १/१/१)। अभिप्राय यह है कि विद्या चार प्रकार से उपयुक्त होती है (उपयोग में आती है अथवा, फलवती होती है)- गुरु से पढ़ते समय, पढ़ी हुई विद्या का अभ्यास करते समय, शिष्यों को पढ़ाते समय और यज्ञादि अवसरों पर अपना (शास्त्रार्थादि द्वारा) ज्ञान प्रकट करते समय।

इस प्रकार, बोध-शोध-प्रबोध अथवा, शोध-बोध-प्रबोध - ये तीनों ही शोध प्रक्रिया के अति महत्त्वपूर्ण सोपान हैं।

चूँकि हम यहाँ शोध के व्यापक आयाम की बात नहीं कर सकेंगे (यतः विषय क्षेत्र का असीमित विस्तार हो जायगा) अतः हमारा प्रयत्न मानविकी और विशेष रूप से, संस्कृत वाङ्मय के क्षेत्र में ही शोध प्रविधि के निरूपण तक सीमित रहेगा। इस दृष्टि से शोध का प्रासङ्गिक और व्यावहारिक अर्थ होगा- 'किसी ग्रन्थ विशेष का मूलभूत तत्त्वों (तथ्यों, मर्म अथवा रहस्य) का समुन्मीलन, व्यवस्थित उपस्थापन, पुनर्व्यवस्थापन।' शोध वस्तुतः जिज्ञासा से उद्भूत होता है और उस जिज्ञासा के समाधान में उपशमित होता है। शोध हमारी अन्तःकरण की जिज्ञासु प्रवृत्ति का प्रतिफलन है।

अभी शोध के जिस अर्थ की चर्चा की गयी, वह शोध की एक स्वतंत्र या स्वाधीन प्रक्रिया है और उसे क्षेत्र तथा काल सीमा में नहीं बाँधा जा सकता। एक कहावत है- 'ज्यों केरा के पात में पात-पात में पात त्यों ज्ञानिन की बात में बात-बात में बात।' आशय यह है कि एक बात का विवेचन करने में ज्ञान की इस गली से उस गली में फिर उस गली से दूसरी, तीसरी, चौथी- इस तरह तमाम गलियों में होती हुई बात दूर तक चली जाती है और शोध का दायरा बढ़ता चला जाता है और ऐसा भी देखा गया है कि किसी अभीष्ट विषय पर शोध करने में विद्वानों की कई पीढ़ियाँ व्यतीत हो गयीं। किन्तु वर्तमान काल में जिस अर्थ में शोध का प्रयोग (अथवा प्रचलन) हो रहा है, उसका विषय क्षेत्र तो सीमित है ही, कालावधि भी सीमित

(अथवा निश्चित) है। वस्तुतः ऐसा समय की माँग के कारण है। इस शोध को हम 'प्रबन्ध कला' अथवा 'प्रबन्धकीय कौशल' के रूप में ले सकते हैं। किसी विषय पर यथासम्भव गम्भीर अध्ययन पूर्वक विभिन्न स्रोतों के माध्यम से तथ्यात्मक सामग्री सङ्कलित करके उसे निष्कर्षपूर्वक प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत कर देना वर्तमान काल में शोध की संज्ञा से सर्वविदित है। इसे कुछ सीमित शब्दों अथवा पृष्ठों में प्रस्तुत किया जाता है और कलेवर (आकार) की दृष्टि से वह या तो 'शोध पत्र' (लघुतम रूप) होता है अथवा 'शोध प्रबन्ध' (बृहत्तर या बृहत्तम रूप)। सम्प्रति इस कार्य को शैक्षणिक योग्यता (अर्हता) के साथ जोड़कर उच्च शिक्षा संस्थानों (विश्वविद्यालयों तथा शोध संस्थानों) ने अपने नियमित अथवा सुनिश्चित पाठ्यक्रम का अङ्ग बना लिया है। विश्वविद्यालय शोध प्रबन्धों का मूल्याङ्कन कराकर (अथवा परीक्षण) करा कर उसके आधार पर शोधच्छात्रों को एम.फिल्., पीएच.डी./डी.फिल्., डी.लिट्./डी. एससी. आदि डिग्रियाँ प्रदान करते हैं।

शोध का उद्देश्य (प्रयोजन)

किसी भी कार्य के पीछे कोई न कोई कारण अवश्य होता है। उस कारण या हेतु के बिना कार्य हो ही नहीं सकता- 'कारणं विना कार्यं नैव भवति।' किसी भी कार्य को 'क्यों', 'कब', 'कहाँ', 'कैसे' आदि प्रश्न घेर ही लेते हैं। सामान्य जीवन में भी इस तरह के प्रश्न नित्य उपस्थित होते रहते हैं। हम साँस क्यों लेते हैं? भोजन क्यों करते हैं? पानी क्यों पीते हैं? जाड़े में ऊनी वस्त्र क्यों पहनते हैं? हम यहाँ क्यों आते हैं? हम दर्शन करने क्यों जाते हैं? हम वहाँ क्यों बैठते हैं? वह मुझे क्यों बुलाता है? हम गर्मियों में कहाँ और क्यों जाते हैं? वहाँ कैसे जायेंगे? पिताजी कब आयेंगे? इत्यादि असंख्य प्रश्नों से सामना होना स्वाभाविक है। और, इनमें से अधिकांश का उत्तर भी मिलता है। बहुत से प्रश्नों का उत्तर देने के लिये कुछ ढूँढ़ना (पता लगाना) भी पड़ता है। अपने से अधिक ज्ञान वाले व्यक्ति या पुस्तक से सहायता भी लेनी पड़ती है। सन्तुष्टि न होने पर और आगे बढ़ना पड़ता है। इस प्रकार की जिज्ञासाओं का कोई अन्त भी नहीं होता फिर भी कोई न कोई समाधान चाहिए ही। अतः शोध का प्रथम उद्देश्य है जिज्ञासा का समाधान।

जिन्होंने हिन्दी में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का लेख- 'नाखून क्यों बढ़ते हैं?'- पढ़ा होगा, वे मेरा प्रासङ्गिक अभिप्राय अवश्य समझ गये होंगे। क्योंकि संसार का प्रत्येक जाना-अनजाना कार्य (या क्रिया) प्रश्न के घेरे में रहता ही है और उसका समाधान भी निकलता है। इस प्रकार, प्रश्न (जिज्ञासा) और समाधान के

मध्य का सेतु बनता है शोध। अब एक स्वाभाविक प्रश्न उपस्थित है- 'हम शोध क्यों करते हैं?' अथवा, 'शोध क्यों किया जाता है? इसे हम दूसरे शब्दों में ढाल कर यों कह सकते हैं- शोध का उद्देश्य या प्रयोजन क्या है? इस प्रश्न का प्राथमिक उत्तर दिया जा चुका है- 'जिज्ञासा का समाधान।'

संस्कृत की इस सूक्ति से हम सभी परिचित हैं- 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते।' अर्थात्, प्रयोजन का विचार किये बिना कोई मन्द = मूढ़ या पागल भी किसी कार्य को करने में प्रवृत्त नहीं होता।' इसका अभिप्राय यह है कि कोइ भी कार्य आरम्भ करने से पहले उसके परिणाम या फल के सम्बन्ध में विचार कर लिया जाता है। एकाध अपवाद हो सकता है[४] (और वह अमवाद सामान्य कोटिक न होकर विशिष्ट कोटिक ही होगा)। नीति भी कार्य और उसके फल के विषय में कहती है-

"उचितमनुचितं वा कुर्वता कार्यजातं
परिणतिरवधार्या यत्नतः पण्डितेन।"

अर्थात्, कार्य चाहे उचित हो अथवा अनुचित, बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि उसके परिणाम के सम्बन्ध में अच्छी तरह समझ ले। इस तरह, व्यावहारिक धरातल पर कार्यारम्भ के साथ उसके फल के सम्बन्ध में विचार करने की लोक परम्परा सदा से रही है।

अतः हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि कोई भी कार्य बिना प्रयोजन के नहीं किया जाता। प्रयोजन अर्थात् अभीष्ट सिद्धि ही उस कार्य का हेतु होता है। कार्य या क्रिया के करने से (विधिवत् सम्पादन से) जिस परिणाम या फल की प्राप्ति होती है, वह फल ही उस कार्य का प्रयोजन होता है। शोध के सम्बन्ध में भी यह नियम पूर्णतः लागू होता है। संस्कृत में शोध की परम्परा अति प्राचीन है। किन्तु प्राचीन शोध के स्वरूप और आधुनिक शोध के स्वरूप में पर्याप्त अन्तर आ गया है। हम यह नहीं कह सकते कि प्राचीन काल का शोध वर्तमान काल के शोध की अपेक्षा अधिक अच्छा है। इस विषय में महाकवि कालिदास का कथन विचारणीय है-

पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः।।

'जो प्राचीन है, वही समीचीन है और जो काव्य नवीन है, वह दोषयुक्त है'-

४. ब्राह्मणेन निष्कारणं षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च।

ऐसा मानना उचित नहीं है। सज्जन (सहृदय) सम्यग् परीक्षण करके ही (नया अथवा पुराना काव्य) अपनाते हैं। मूढ़ जन दूसरों के कथन पर विश्वास करते हैं। यहाँ महाकवि कालिदास का कथन शोधपरक है। वे काव्य के गुण-दोष को शोधने (परीक्षण करने) की बात कर रहे हैं। कालिदास ने सन्तों (सहृदय सज्जन) द्वारा परीक्षण करने की बात कही है- 'सन्तः परीक्ष्य अन्यतरद् भजन्ते।' 'सन्त' से इतर जो हैं वे 'मूढ़' हैं। इसमें एक महत्त्वपूर्ण तथ्य निगूढ़ है कि काव्य के परीक्षण का अधिकारी कौन है? उत्तर है- 'सन्त' अर्थात् जो काव्यरूप विषय का सम्यग् ज्ञाता हो, सहृदय हो, काव्यज्ञ हो और साथ ही साधु प्रकृति, साधु आचरण और पक्षपातरहित हो। कालिदास 'सन्तः' का प्रयोग एक विशिष्ट अभिप्राय से करते हैं। अन्यत्र भी उनका यह प्रयोग ध्यातव्य है।[५] निष्कर्ष यह है कि शोध सामान्य व्यक्ति के वश की बात नहीं है।

ईशोपनिषद् के पूर्वोद्धृत[६] मन्त्र में शोध के प्रयोजन का स्पष्ट सङ्केत है। वहाँ जिज्ञासु वैदिक ऋषि ढँके हुए सत्य को अनावृत करने की प्रार्थना करता है ताकि सत्य रूप धर्म का साक्षात्कार हो सके। इस प्रकार, प्राचीन काल में शोध का प्रयोजन था सत्य का साक्षात्कार, सत्य की प्राप्ति। मनुष्य मात्र जिज्ञासु प्रकृति का प्राणी है।[७] उनमें निरन्तर अन्वेषण की प्रवृत्ति होती है। बालक (अज्ञो भवति वै बालः, बाल एव वालकः) में भी खोजी दृष्टि का अभाव नहीं होता तो भला ऊँचे बौद्धिक स्तर के मनुष्य का कहना ही क्या? वह तो एक निश्चित उद्देश्य से निश्चित दिशा में शोध करता है। भौतिक जगत् में जहाँ शोध के विषय स्थूल पदार्थ होते हैं, वहीं अध्यात्म और दर्शन में शोध का विषय सूक्ष्म होता है। जगत् के रहस्य और सृष्टि की विचित्रताएँ अनादि काल से शोध का विषय बनी हुई हैं और जन्म-मृत्यु, ब्रह्मजीव (परमात्मा-आत्मा), भुक्ति-मुक्ति आदि शाश्वत शोध के विषय हैं। इन पर निरन्तर शोध होता चला आ रहा है किन्तु आज तक शोधकों का प्रयोजन पूरा नहीं हो सका, कोई सर्वमान्य निष्कर्ष नहीं निकल सका।

और अधिक सरलता से समझने के लिए हम साहित्य जगत् से 'काव्य' को अपना लक्ष्य बना लें और देखें (विचार करें) कि क्या अभी तक काव्य का कोई

५. तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवे।
६. हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।। - (ईशावा., १५)
७. पशु-पक्षियों में भी जिज्ञासा होती है। यह प्रवृत्ति वनस्पितियों में भी पायी जाती है।

सर्वमान्य लक्षण बन सका? यदि काव्य का कोई सर्वमान्य लक्षण बन गया होता तो हमारे विद्वान् साहित्य मर्मज्ञ आचार्यों को इतने सारे लक्षण गढ़ने का अभ्यास न करना पड़ता। अधुनातन आचार्य भी काव्य का लक्षण किये जा रहे हैं फिर भी क्या हमारे काव्य-लक्षण विषयक शोध का उद्देश्य पूरा हुआ? क्या आचार्यों का यह प्रयोजन सिद्ध हुआ?

निश्चय ही, शोध निरन्तर चलने वाली एक प्रक्रिया है और इसका उद्देश्य है ज्ञान की पिपासा को शान्त करना, ज्ञान के नये-नये आयामों को विस्तर देना, नवीन तथ्यों का उद्घाटन करना, रहस्यों का उन्मीलन करना। वस्तुतः शोध का उद्देश्य उसकी आवश्यकता से सम्बद्ध है, उस पर निर्भर है और उस आवश्यकता की पूर्ति करने वाला है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में बढ़ती हुई समस्याओं के सन्दर्भ में शोध के उद्देश्य में भी परिवर्तन होना स्वाभाविक है। यदि हम विज्ञान, यांत्रिकी, चिकित्सा, कृषि आदि को छोड़कर मानविकी और समाजशास्त्रीय विषयों को लें तो वर्तमान में शोध का उद्देश्य शोधार्थियों की योग्यता (अर्हता-शोध विषयक डिग्री) प्रमाणित करने का एक माध्यम बनना हो गया है।

शोध की उपयोगिता

इस सृष्टि में ऐसी कोई वस्तु या क्रिया नहीं है, जिसकी कोई उपयोगिता न हो। एक व्यक्ति के लिए जो अनुपयोगी होता है, वही अन्य के लिए उपयोगी हो जाता है। वस्तुओं को हम नितान्त अनुपयोगी मान कर रद्दी या कचरे के रूप में फेंक देते हैं, उनमें भी लोग उपयोग लायक चीजें ढूँढ़ कर (शोध कर) निकाल लेते हैं। कूड़े-कचरे के ढेर से ऐसी चीजों को खोजते-बीनते लोग (निम्न आय वर्ग के बच्चे) दिखायी दे जाते हैं। इसी प्रकार, जिसे हम फालतू या बेकार का काम (क्रिया) कहकर टाल देते हैं, वह भी कभी-कभी नितान्त आवश्यक और उपयोगी होता है। भाप के इंजिन और बिजली का आविष्कार इसी तरह के फालतू कामों से ही हुआ है।

कहा जाता है कि महान् आयुर्वेदाचार्य महर्षि चरक का एक शिष्य जब भिषक् शास्त्र की शिक्षा पूरी करके आचार्य से विदा लेने उनके चरणों में उपस्थित हुआ तो आचार्य चरक ने उससे कहा कि अभी तुम्हारी शिक्षा पूरी नहीं हुई है। इस शास्त्र की एक व्यावहारिक परीक्षा तुम्हें देनी है। तुम पता लगाओ कि आश्रम के चारों ओर एक योजन (या कुछ योजन) व्यास की परिधि में जितनी वनस्पतियाँ हैं उनमें से कितनी की औषधीय उपयोगिता नहीं है। यह परीक्षा गहन शोध से सम्बद्ध थी और साथ ही उसके ज्ञान तथा धैर्य की भी कठिन परीक्षा थी। आचार्य द्वारा निर्दिष्ट

क्षेत्र में उपलब्ध वनस्पतियों का मूल से फल पर्यन्त परीक्षण करना था। उनके भौतिक स्वरूप के साथ ही गुणों का परीक्षण करना था और फिर उनका कितने प्रकार से औषधीय उपयोग किया जा सकता है, इसका प्रत्यक्ष प्रयोग करके निष्कर्ष निकालना था। यह कोई सामान्य कार्य न था। वह शिष्य वर्षों तक तन्मय होकर इस कार्य में लगा रहा और अन्ततः उसने अपने शोध परिणाम से आचार्य को अवगत कराया कि अमुक वनस्पति (के मूल, डंठल, छाल, पत्ती, फूल, फल) में अमुक-अमुक औषधीय गुण हैं और कोई भी वनस्पति औषधि की दृष्टि से अनुपयोगी नहीं है। यह एक व्यापक सर्वेक्षण और गहन शोध की उपयोगिता की ओर सङ्केत करता है।

कोई भी शोधकार्य मनुष्य के लिए दो दृष्टियों से उपयोगी है-

१. बौद्धिक दृष्टि और २. सामाजिक दृष्टि

यह सर्वविदित है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह अपने शैशवकाल से ही जिज्ञासु प्रवृत्ति का होता है। वह अपने आस-पास की वस्तुओं और घटनाओं के प्रति सतर्क दृष्टि से विचार करता है। एक छोटी सी घटना ने गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त का (आधुनिक काल में) आविष्कार कराया। न्यूटन नाम का एक व्यक्ति (जो आगे चलकर महान् वैज्ञानिक हुआ और 'सर आइजक न्यूटन' नाम से प्रसिद्ध हुआ) यों ही एक बगीचे में बैठा हुआ था। उसके सामने एक वृक्ष से फल टपक पड़ा। यह एक सामान्य घटना है और इसे न जाने कितने लोगों ने देखा होगा। किन्तु न्यूटन ने देखा तो वह सोचने लगा कि यह फल नीचे जमीन पर क्यों गिरा? ऊपर आकाश में क्यों नहीं गया? बस, ऐसा सोचते-सोचते अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि पृथिवी में अपनी ओर खींचने की शक्ति है। इस प्रकार गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त (LAW OF GRAVITY) का आविष्कार हुआ।

सङ्ग्रह करना और बनाना-बिगाड़ना-यह मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। बच्चे बहुत सी बेकार पड़ी चीजों का भी सङ्ग्रह रुचिपूर्वक करते हैं और उनके बारे में अपनी तरह से सोचते हैं। इसी प्रकार, वे घर-बाहर पड़ी फालतू चीजों को भी जोड़ते-तोड़ते कोई नयी चीज बना डालते हैं। इससे उनका बौद्धिक विकास प्रभावित होता है। बाल मनोवैज्ञानिकों का परामर्श है कि बच्चों को बार-बार टोंकना या हतोत्साहित नहीं करना चाहिए। ऐसा करने से उनमें कुण्ठा आती है और उनका बौद्धिक विकास अवरुद्ध हो जाता है। अतः बालकों के बौद्धिक विकास को प्रोत्साहित करना चाहिए। बच्चों का बौद्धिक विकास तो होता ही है, आगे चलकर उनका सामाजिक सरोकार भी परिलक्षित होता है।

१. बौद्धिक दृष्टि से शोध की उपयोगिता

शोधा चाहे मानविकी के क्षेत्र का हो, समाजविज्ञान या विज्ञान के क्षेत्र का हो, उसका विषय सामान्य हो अथवा विशेष हो; शोधार्थी अपने प्रतिपादन और निष्कर्ष को कुछ नयापन प्रदान करने के लिए सचेष्ट रहता है। वह अन्य की अपेक्षा अलग हटकर कुछ कर दिखाना चाहता है। विषय का चयन, शोध की प्रक्रिया, विधि, प्रविधि अथवा, प्रयोग का निरालापन ('एकला चलो रे' का स्वर) उसके बौद्धिक स्तर का स्पष्ट निर्देश करते हैं। यही कारण है कि एक ही विषय पर किये गये शोधकार्य, शोधार्थियों के बौद्धिक स्तर के कारण भिन्न-भिन्न हो जाते हैं और उनमें परस्पर विलक्षणता के साथ ही नूतनता भी दृष्टिगोचर होती है। शोधकार्य की गुणवत्ता की कसौटी है- 'शोधार्थी के बौद्धिक स्तर की उत्कृष्टता।' विषय-ग्राहकता की दृष्टि से शोधार्थी के बौद्धिक स्तर को चार दृष्टान्तों के आधार पर समझा जा सकता है- पत्थर का कोयला, लकड़ी, कपूर और पेट्रोल। पत्थर के कोयले में आग बहुत देर से पकड़ती है और लकड़ी में उसकी अपेक्षा शीघ्र पकड़ लेती है। कपूर में आग स्पर्श मात्र से पकड़ लेती है और पेट्रोल में तो दूर से ही पकड़ लेती है। कुछ शोधार्थी निर्देशक के बार-बार समझाने पर भी विषय को देर से समझ पाते हैं और कुछ शीघ्र ही समझ जाते हैं। कुछ शोधार्थी मुख्य बातों का स्पर्श पाते ही पूरे विषय को समझने में तनिक भी देर नहीं नहीं लगाते और कुछ तो सङ्केत मात्र से ही पूरी विषयवस्तु ग्रहण कर लेते हैं। ऐसे शोधार्थियों के लिए न्याय लागू होता है- 'राणा की पुतली फिरी नहीं तब तक चेतक मुड़ जाता था।' उत्तम शोधार्थी के बौद्धिक स्तर का आख्यान करने के लिए इतना ही कहना पर्याप्त है।

पूर्वोद्धृत श्लोक - 'यथा यथा हि...चास्य रोचते।' भी शोध की बौद्धिक दृष्टि से उपयोगिता का सङ्केत करता है। शास्त्र ज्ञान के प्रति आकृष्ट शोधार्थी उस शास्त्र में प्रवेश करके उसकी गहराई की ओर जैसे-जैसे चलता है, वैसे-वैसे उस शास्त्र के प्रति उसकी रुचि और भी बढ़ती है और वह शास्त्र-ज्ञान को अधिक उत्कृष्टतया हृदयङ्गम करता है।

कहने का तात्पर्य है यह कि बौद्धिक दृष्टि से शोध की महती उपयोगिता है। शोध-प्रक्रिया में संलग्न व्यक्ति के ज्ञान परिक्षेत्र का आयाम विस्तार तो होता ही है, उसका अपना बौद्धिक विकास भी होता है। वह तत्त्वानुसन्धान करते हुए गहन मनन-चिन्तन करने लगता है जिसके कारण वह सामान्य विषयों से भी एक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकालता है या कोई नयी चीज खोज निकालता है अथवा किसी

अभिनव सिद्धान्त का प्रतिपादन करने में समर्थ होता है। इस प्रकार का अनुसन्धानात्मक बौद्धिक विकास अन्यों के भी बौद्धिक विकास में अन्तःप्रेरक बन सकता है और नव गवेषणा की एक विलक्षण शृङ्खला का आरम्भ हो जाता है। विज्ञान में रासायनिक तत्त्वों की खोज हो या, घनत्व या गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त हो, या लीवर का सिद्धान्त हो, केतली के ढक्कन का अपने आप ऊपर-नीचे उठने-गिरने से भाप के इंजिन का आविष्कार हो, अथवा संस्कृत साहित्य में रससूत्र का प्रवर्तन और उसकी व्याख्यायें हों, गुणों और अलङ्कारों की बढ़ती हुई संख्यायें हों अथवा काव्य के आत्मतत्त्व की गवेषणा हो, यह सब शोध की बौद्धिक दृष्टि से उपयोगिता को प्रमाणित करते हैं।

२. शोध की सामाजिक दृष्टि से उपयोगिता

वर्ण संरचना (अक्षर सङ्घटना) की दृष्टि से 'समज' और 'समाज' में कोई खास अन्तर नहीं है किन्तु अर्थ की दृष्टि से दोनों में पर्याप्त अन्तर है। 'समज' का अर्थ है- पशु-पक्षियों का समूह और 'समाज' का अर्थ है मनुष्यों का समूह या सभा।[८] 'समाज' से 'सामाजिक' शब्द बनता है जिसका अर्थ होता है- समाज या सभा से सम्बद्ध अथवा सभा में प्रेक्षक।

मनुष्य समाज की एक इकाई है। अतः मनुष्य द्वारा किया गया कोई भी कार्य समाज (मानव समूह) को प्रभावित करता है।[९] शोध में प्रवृत्त मनुष्य (शोधार्थी) अपने शोध के परिणामस्वरूप जिन तथ्यों या वस्तुओं का आविष्कार करता है, वे दो प्रकार के हो सकते हैं। या तो वे समाज के लिये उपयोगी होंगे अथवा, अनुपयोगी। यदि अनैकान्तिक दृष्टि से देखा जाय तो जो कुछ है या जो कुछ आविष्कृत होता है या मनुष्य द्वारा बनाया जाता है अथवा पर्यावरण से प्राप्त होता है, वह सब उपयोगी होता है। उसे अनुपयोगी बताना- यह या तो हमारे अज्ञान का सूचक है अथवा, हमारी विपरीत चेष्टाओं का कुफल। उपयोगिता के भी दो पक्ष हैं- सदुपयोगिता और दुरुपयोगिता। किसी वस्तु तथा तथ्य को बिना अच्छी तरह जाँचे-परखे, एकदम से कह देना कि यह अनुपयोगी है, नितान्त अन्याय है। इसी प्रकार, किसी वस्तु का सदुपयोग या दुरुपयोग मनुष्यमात्र की विवेक बुद्धि पर निर्भर है। उचित मात्रा में किया गया भोजन मनुष्य के पोषण के लिये होता है किन्तु अधिक या न्यून मात्रा में

८. 'पशूनां समजोऽन्येषां समाजः' - अमरकोश, २/५/४२। 'मानव समाज'- ऐसा प्रयोग चिन्त्य है।

९. मानव कृत कार्य 'समज' अर्थात् पशु-पक्षियों के समूह को भी प्रभावित करते हैं।

किया गया भोजन कुपोषण का कारण बनता है। इसी तरह, फसलों की कीटनाशक दवाओं का प्रयोग मनुष्य के लिए प्राणघातक हो सकता है अथवा, निर्धारित मात्रा से अधिक दवा लेना हानिकारक होता है। इसी लिए खराब से भी खराब वस्तु कभी उपयोगी और अच्छी से भी अच्छी वस्तु कभी अनुपयोगी सिद्ध होती है।

यहाँ 'उपयोग' का प्रयोग सामान्यतः 'सदुपयोग' के अर्थ में किया गया है।

शोध के परिणामों का प्रयोग मुनष्य की सर्वतोभावेन उन्नति की दृष्टि से होता है। यद्यपि शोध के परिणाम भी उत्पादक और संहारक दो प्रकार के होते हैं। उत्पादक तो सर्वजनहिताय-सुखाय होता है किन्तु संहारक व्यक्ति, जाति, राष्ट्र के सापेक्ष होता है।

शोध से जहाँ एक ओर नवीन तथ्यों का उद्घाटन होता है, वहीं पूर्वतः प्रचलित व्यवहारों का सैद्धान्तिक सत्यापन भी होता है।[१०] इसी क्रम में हम यह उपस्थापित कर सकते हैं कि पुरातात्त्विक शोध एक ओर इतिहास को समृद्ध करता है तो वह इतिहास भी दूसरी ओर हमारे भाषा-साहित्य को पुष्ट करता है। साहित्य के अध्येताओं को समान भाषा के सैद्धान्तिक विकास से लाभ भी पहुँचाता है। तत्त्वचिन्तन और तत्त्वोन्मीलन, एक ओर जहाँ सामाजिक समरसता का निर्माण करता है, वहीं दूसरी ओर, उस भाषा-परिवार के जातीय उत्कर्ष का कारण भी बनता है। विज्ञान, अभियंत्रण, चिकित्सा, कृषि आदि क्षेत्रों में होने वाले शोध, समाज को सुख-समृद्धि के मार्ग से प्रगति के पथ पर ले जाते हैं। भारत में हुई 'हरितक्रान्ति' और 'श्वेतक्रान्ति' इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है जिसे हम सभी अनुभव कर रहे हैं और लाभ उठा रहे हैं। नित्य नवीन शोधों के बल पर हम 'औद्योगिक क्रान्ति' की ओर भी अग्रसर हैं। परिवहन, यातायात, दूरसंचार और इलेक्ट्रानिक मीडिया ने आज मानव को विकास के ऊँचे सोपान पर लाकर खड़ा कर दिया है। इस प्रकार, शोध की सामाजिक दृष्टि से उपयोगिता स्वतः प्रमाणित है।

आज समुपलब्ध उन्नत संसाधनों से ज्ञान-विज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में शोध का द्रुतगति से विस्तार हो रहा है। किन्तु हमें सतत सावधान रहना होगा कि शोध की दिशा कहीं भटक न जाय और उसका उद्देश्य किसी निम्नकोटिक स्वार्थ में अटक न जाय। इसलिए आवश्यकता है कि शोध सही दिशा में हो अर्थात् उसके पीछे प्राणिमात्र का हित चिन्तन हो, उसके समुत्कर्ष का ही मनन हो। शोध के लिए शोध

१०. द्रष्टव्य - 'भारतीय संस्कृति की वैज्ञानिकता', सम्पादक- डॉ. उमारमण झा, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, प्रथम संस्करण, २००२ ई.।

हो, आत्मबोध के लिए शोध हो।

इस प्रकार, हमने देखा कि शोध की केवल बौद्धिक दृष्टि से ही उपयोगिता नहीं है अपितु उससे भी अधिक सामाजिक दृष्टि से उपयोगिता है।

शोध के विविध आयाम (प्रकार)

यह उक्ति प्रायः हम सुनते रहते हैं- "हरि अनन्त हरिकथा अनन्ता।" अपि च, "जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरत देखी तिन तैसी।" ऐसी उक्तियों की तर्ज पर हम कह सकते हैं- "विषय अनन्त शोध का आयाम (प्रकार) अनन्त" तथा, 'जितनी दृष्टियाँ उतने प्रकार के शोध।' अतः शोध के प्रकारों की गणना अथवा उनका नियमन एक दुष्कर कार्य है। अपने सिर का मुण्डन कराने वाले एक व्यक्ति ने मुण्डन कर रहे नाई से पूछा- "मेरे सिर में कितने बाल?" मुण्डन कर रहे नाई ने कहा- "बाल आपके सामने गिर रहे हैं, गिन लीजिए।" यह सर्वथा असम्भव तो नहीं किन्तु दुष्कर अवश्य है। शोध की प्रकारता का भी यही हाल है। कहने का अभिप्राय है कि शोध के प्रकारों की कोई इयत्ता नहीं हो सकती। शोध के प्रकार असंख्य हो सकते हैं। जब एक ही विषय पर अनेक प्रकार के शोध हो सकते हैं, तो विषय भी असंख्य हैं और किसी गणितीय गणना के अधीन नहीं हैं। फिर दृष्टि भेद, व्यक्ति (शोधार्थी) भेद, प्रयोजन भेद से शोध की प्रकारता बढ़ती ही जाती है। 'शोध के लिए शोध' का अर्थ ही है कि एक शोध की जड़ से दूसरे शोध का अँखुवा फूटता रहता है। इस प्रकार, शोध का आयाम विस्तार को प्राप्त करता रहता है।

यद्यपि शोध के असंख्य प्रकार हैं तथापि हम एक सीमा तक उनका कुछ वर्गीकरण अवश्य कर सकते हैं। प्राथमिक स्तर पर हम शोध को दो भागों में बाँट सकते हैं। प्रथम है आत्मनिष्ठ (SUBJECTIVE) और द्वितीय है वस्तुनिष्ठ (OBJECTIVE)। आत्मनिष्ठ शोध के बीज वैदिक संहिताओं के विभिन्न सूक्तों में तथा उपनिषदों में बिखरे पड़े हैं। दार्शनिक और आध्यात्मिक जिज्ञासाएँ भी आत्मनिष्ठ शोध के मूल में हैं। ऐसे तमाम रहस्यात्मक गूढ़ प्रश्न आज भी अनुत्तरित हैं तथा निरन्तर शोध के विषय बने हुए हैं। तपःस्वाध्याय निरत महर्षियों ने इन गूढ़तम तत्त्वों का साक्षात्कार करके समाधान देने का प्रयत्न किया है और आधुनिक युग में भी महर्षि अरविन्द, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी विशुद्धानन्द, म.म. गोपीनाथ कविराज, म.म. मधुसूदन ओझा, लोकमान्य बालगंगाधर तिलक प्रभृति मनीषियों ने शोध का यही मार्ग अपनाया।

वस्तुनिष्ठ शोध का विशेष क्षेत्र अतिविस्तृत है। वर्तमान कालिक मानव की भौतिक सुख-समृद्धि और विज्ञान का विकास इसी प्रकार के शोध का परिणाम है।

मानविकी तथा समाजशास्त्रीय विषयों के शोध भी इसी के अन्तर्गत आते हैं। हम यहाँ मानविकी और उसमें भी विशेषतः संस्कृत वाङ्मय से जुड़े विषयों में होने वाले शोध के प्रकारों की चर्चा करेंगे।

संस्कृत वाङ्मय में शोध की अपार सम्भावनाएँ हैं क्योंकि यह अत्यन्त विशाल है। इसका प्रमुखतः दो विभाग है- वैदिक संस्कृत वाङ्मय, जिसमें संहिताओं से लेकर पुराणों तक की गणना होती है; लौकिक संस्कृत वाङ्मय, जिसमें आदिकाव्य वाल्मीकि रामायण से लेकर अद्यावधि पर्यन्त विरचित समस्त साहित्य की गणना होती है। इन्हीं दोनों के मध्य शास्त्रीय वाङ्मय भी आता है, जिसके अन्तर्गत स्मृति आदि धर्मशास्त्र, आयुर्वेद, धनुर्वेद, व्याकरण, मीमांसादि दर्शन और अन्य कई शास्त्र (काव्यशास्त्र, संगीत, गणित आदि) भी गृहीत हैं।[११]

शोध की प्रकारता यद्यपि अनन्त है तथापि उनका एक वर्गीकरण तो किया ही जा सकता है। वर्गीकरण के आधार पर शोध के प्रकारों को समझने में सुविधा होगी। अतः शोध के प्रकारों का एक व्यावहारिक और उपयोगी वर्गीकरण अधोलिखित रूप में दिया जा सकता है-

१. ग्रंथाधारित शोध - ग्रन्थ को आधार बनाकर किये जाने वाला शोध इस श्रेणी में आता है। इसके भी दो भेद हो सकते हैं-

(क) एकग्रन्थीय शोध - किसी एक ग्रन्थ विशेष को लेकर किये जाने वाले शोध को एक ग्रन्थीय शोध कहा जाता है। इस प्रकार के शोध में शोधार्थी अपनी इच्छा के अनुसार एक ग्रन्थ का चयन कर उसके सम्बन्ध में शोध करता है।

(ख) बहु ग्रन्थीय अथवा तुलनात्मक शोध - समान विषय पर लिखे गये दो या दो से अधिक ग्रन्थों को लेकर उनकी तुलनात्मक समीक्षा करना, इस प्रकार के शोध के अन्तर्गत आता है।

उपर्युक्त दोनों प्रकार के शोध अपेक्षाकृत (अध्यवसाय की दृष्टि से) सरल माने जाते हैं क्योंकि शोधार्थी को सामग्री सङ्कलन करने में बहुत आयास नहीं करना पड़ता या भटकना नहीं पड़ता। वह अपनी रुचि के अनुसार अधीत विषय का कोई

---

११. प्राचीन आचार्यों ने 'विद्या' के अन्तर्गत इनकी गणना की चेष्टा की है। प्रारम्भ में चार विद्यायें मानी गयीं- 'आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्च शाश्वती।' पुनः इनकी संख्या चौदह गिनी गयी- 'अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः। धर्मशास्त्रं पुराणं च विद्या एताश्चतुर्दश।।' फिर इनकी संख्या बढ़कर अठारह हो गयी- द्रष्टव्य नैषधचरितम्, १/४-५। अपि च, 'आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वं चेत्यनुक्रमात्। अर्थशास्त्रं चतुर्थं च विद्या अष्टादश स्मृताः।।'

एक ग्रन्थ चुन लेता है और यदि तुलनात्मक विमर्श करना है तो कम से कम दो ग्रन्थों का चयन करता है। एक ग्रन्थीय शोध करने में उसे अपना एक आधारभूत सिद्धान्त स्थिर करना पड़ता है। उस ग्रन्थ का गहन अनुशीलन करके वह उसी ग्रन्थ से अपने आधारभूत सिद्धान्त से सम्बद्ध सामग्री का सङ्कलन करके उसका विवेचन करता है और मान्य निष्कर्ष का प्रतिपादन करता है। उसका आधारभूत सिद्धान्त साहित्यसम्बद्ध हो सकता है अथवा अन्य शास्त्र सम्बद्ध हो सकता है। इस आधार पर भी शोध की प्रकारता में वृद्धि होती है अर्थात् उसे हम साहित्यिक शोध और शास्त्रीय शोध कह सकते हैं। चूँकि ज्ञान की सभी विधाएँ परस्पर अनुस्यूत या अन्तःसम्बद्ध होती हैं अतः विषयविशेष के भी मौलिक ग्रन्थ में शास्त्रान्तर के तत्त्व सन्निविष्ट होते ही हैं क्योंकि 'कवयः क्रान्तदर्शिनः' और 'विद्वांसो नैकमार्गीयाः' इत्यादि से हम सुपरिचित हैं।

एक अच्छे शोधार्थी को चाहिए कि वह इस प्रकार का शोधकार्य सम्पन्न करने के लिए महत्त्वपूर्ण और अनालोचित ग्रन्थ का चयन करे। पूर्वतः आलोचित ग्रन्थ पर भी नवीन दृष्टि से अच्छा कार्य हो सकता है किन्तु प्रायः देखा जाता है कि पूर्वतः आलोचित ग्रन्थ को अपना शोध विषय बनाने वाले शोधार्थी पूर्वकृत कार्य पर ही आश्रित हो जाते हैं और तब सही अर्थों में शोध नहीं हो पाता और शोध की गुणवत्ता निम्नस्तरीय होकर रह जाती है। किन्तु यदि शोधार्थी आलोचित ग्रन्थ के अनालोचित पक्ष पर ध्यान देता है और ईमानदारी से निष्ठापूर्वक कार्य करता है तो उसके शोध निष्कर्ष में निश्चय ही विलक्षणता आयेगी।

एक ग्रन्थीय शोध के भी अनेक आयाम हैं। उदाहरण के लिए किसी भी महाकाव्य, नाट्य, कथा, आख्यायिका के सम्बन्ध में साहित्यिक, दार्शनिक, सामाजिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, भाषावैज्ञानिक, सांस्कृतिक शोध किया जा सकता है बशर्ते कि शोधार्थी ज्ञान या विद्या की उभय अथवा नैक शाखाओं से सुपरिचित हो, उस क्षेत्र में सम्यक् प्रविष्ट हो। मान लीजिए कि शोधार्थी ने किसी महाकाव्य का चयन करके उसमें दार्शनिक दृष्टि से शोध करना चाहा किन्तु उसे यदि दर्शनशास्त्र का सम्यग् बोध नहीं है और उसका साहित्य पक्ष भी पुष्ट नहीं है तो इस शोध में उसकी रंचमात्र भी गति नहीं होगी। फिर भी, किसी तरह उसका शोध प्रबन्ध पूरा हो भी गया, तो भी वह महत्त्वहीन हो होकर रह जायगा। आगे अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है।

समान कथावस्तु को आधार बनाकर भिन्न-भिन्न कवि और लेखक समान या असमान काल में महाकाव्यों अथवा रूपकादि का प्रणयन करते हैं। ऐसे ग्रन्थों को

आधार बनाकर तुलनात्मक शोध किया जाता है। इसमें उन प्रणेता महाकवियों की प्रतिभा का भी मूल्याङ्कन होता है। उपजीव्य ग्रंथों के समान वृत्तान्त लेकर कविगण रचनाएँ करते हैं तो उनमें साम्य के साथ वैषम्य भी हो सकता है क्योंकि नेता और रस की दृष्टि से कवि मूलकथावस्तु में प्रभावकारी परिवर्तन भी करते हैं।

'मृच्छकटिक का नाट्यशास्त्रीय अथवा समाजशास्त्रीय अथवा सांस्कृतिक अनुशीलन', 'नैषधीयचरित का दार्शनिक परिशीलन', 'भट्टिकाव्य का व्याकरण-शास्त्रीय अध्ययन', 'हरविजय महाकाव्य का साहित्यिक अनुशीलन', 'कालिदास के काव्यों पर मल्लिनाथ की टीका का विमर्श', 'बालरामायण एवं अध्यात्मरामायण का तुलनात्मक अध्ययन' 'नलोदय और नलचम्पू का तुलनात्मक परिशीलन' इत्यादि को हम ऐसे शोधों के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं।

२. विशेष विषयपरक शोध – इसे हम 'प्रवृत्ति परक शोध' भी कह सकते हैं। ऐसे शोध का आधार अनेक ग्रन्थों का समूह अथवा कोई विधा विशेष हो सकती है। इसमें शोधच्छात्र को एक पक्ष विशेष पर अपना ध्यान केन्द्रित करना पड़ता है। विषय के विविध आयाम होते हैं। अतः उनमें से बीज रूप में सन्निविष्ट किसी एक को गृहीत कर शोधकार्य को सम्पन्न किया जाता है।

संस्कृत के ऐतिहासिक महाकाव्य/रूपक/उपन्यास, संस्कृत नाटकों में निरूपित समाज एवं संस्कृति, रामकथाश्रित रूपकों में राम/सीता/रावण का चरित्र, संस्कृत काव्यों में शृङ्गार/वीर/करुण/वात्सल्य आदि रस; संस्कृत की दूतकाव्य परम्परा, काव्य-गुण-विमर्श, ध्वनि सिद्धान्त का विकास, संस्कृत नाटकों के विदूषक, संस्कृत काव्यों/रूपकों की सूक्तियों का अनुशीलन, संस्कृत काव्यों में प्रतीक योजना/बिम्बविधान, बृहत्त्रयी में निपातों का प्रयोग, कालिदास द्वारा प्रयुक्त क्रियापद, भवभूति के रूपकों में औचित्य विमर्श, चम्पूकाव्य का उद्भव और विकास, संस्कृत साहित्य में नवाचार, संस्कृत महाकाव्यों में राष्ट्रिय चेतना/पर्यावरण-चेतना, इत्यादि असंख्य शोध के विषय हो सकते हैं।

३. अन्तर्विषयी शोध – ऐसे दो विषयों, जिनका परस्पर अन्तःसम्बन्ध होता है, को आधार बनाकर किया जाने वाला शोध 'अन्तर्विषयी शोध' कहा जाता है। अन्तर्विषयी शोध वही शोधार्थी कर सकता है जिसे दोनों विषयों का प्रौढ़ ज्ञान हो। इसमें प्रथम विषय मुख्य होता है और शोध की मान्यता मूलतः उसी विषय से सम्बद्ध होती है।

वैदिक यज्ञों में प्रयुक्त ओषधियाँ, कालिदास साहित्य में वैदिक परम्परा का

प्रतिफलन, काव्य प्रकाश और कश्मीरशैव दर्शन, कालिदास के काव्यों में ज्योतिर्विज्ञान, यज्ञ और पर्यावरण/वर्षा, कालिदास साहित्य में वर्णित पशु-पक्षी, दूत काव्यों में भौगोलिक तत्त्व, कालिदास साहित्य और सङ्गीत, कालिदास कालीन चित्रकला, हर्षचरित का ऐतिहासिक मूल्याङ्कन, वैदिक रुद्र की पौराणिक शिवता, महाभाष्य के साहित्यिक प्रयोग इत्यादि इस प्रकार के शोध विषय हो सकते हैं।

४. समस्या मूलक शोध - यद्यपि जिज्ञासा और समस्या- ये दोनों ही किसी भी शोध के मूल में होती हैं किन्तु जहाँ समस्या एक व्यापक विषय के रूप में हो, वहाँ शोध के लिए पर्याप्त अवसर रहता है। समस्या भी दो प्रकार की होती है- प्रथम समस्या वह है जिसका आज तक कोई निश्चित समाधान नहीं हो सका है। ऐसी समस्या को शोध का विषय नहीं बनाया जाना चाहिए। उदाहरण के लिए कुछ समस्याएँ ऐसी हैं जिन्हें लोग चुहलबाजी में अथवा परेशान करने के लिए आगे रख देते हैं। यथा- बीज पहले हुआ कि वृक्ष? अंडा पहले था कि पक्षी? ब्रह्माण्ड की सही नाप क्या है? द्वितीय समस्या वह है जिसका समाधान सम्भव है। उसी सम्भावना के सहारे ऐसी समस्या को शोध का विषय बनाया जा सकता है। वैदिक और पौराणिक वाङ्मय में ऐसे समस्यापरक शोधविषय भरे पड़े हैं जिनके समबन्ध में आज भी अनभिज्ञता बनी हुई है।

सोमलता की पहचान, सरस्वती नदी की खोज, प्रणव (ओङ्कार) का रहस्य, आत्म-परमात्मतत्त्व, मृत्यु पश्चात् जीव की स्थिति, कतिपय ऋषियों और मनुष्यों की अमरता, स्वर्ग और नरक की वास्तविकता, अवतारों का रहस्य, प्राचीनतम वर्णित स्थानों की वर्तमान भौगोलिक स्थिति इत्यादि ऐसे कुछ समस्यामूलक विषय हैं।

संस्कृत साहित्य में भी अनेक समस्याएँ ऐसी हैं जिनका कोई ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक समाधन आज तक नहीं हो पाया है। विद्वान् आज भी इन समस्याओं के समाधान में प्रयासरत हैं और परस्पर विरोधी मतों में उलझे हुए हैं।

महाकवि कालिदास की उपलब्ध रचनाओं का हम आनन्द लेते हैं किन्तु महाकवि का सही परिचय अभी भी अज्ञात है। महाकवि का वास्तविक नाम, जन्मकाल, जन्मस्थान और कर्तृत्व (समग्र) आज भी असमाधेय बना हुआ है। वेणी-संहार नाटक का नायक कौन है? तथा मृच्छकटिक का असली कर्ता कौन है? काव्य का आत्मतत्त्व क्या है? 'अलं ब्रह्म' का सत्यार्थ क्या है? महाकवि भास ने कुल कितने नाटक लिखे? इत्यादि समस्याओं के अतिरिक्त भी अन्य अनेक समस्याएँ हैं जिन्हें शोध विषय बना जा सकता है। सिन्धु लिपि (हड़प्पा-मोहनजोदड़ो की

खुदाई में प्राप्त मुद्रालेख और आकृतियाँ) का रहस्य आज भी यथावत् है और सही समाधान की प्रतीक्षा कर रहा है। महाभारत के कूट श्लोक भी इसी कोटि में हैं। रामायण की लङ्का, मेघदूत का रामगिरि और अलका आज भी संशोध्य है। संस्कृत साहित्य के अनेक ग्रन्थ जिनके उल्लेख मिलते हैं, उनकी उपलब्धि भी अनुसन्धेय है। ऐसे अनेक समस्यामूलक शोधविषय शोधार्थियों की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

५. क्षेत्रीय शोध - देश और काल की सीमा में आबद्ध होकर साहित्य अथवा अन्य विषयों में किये जाने वाले शोध इस कोटि में आते हैं। स्थान विशेष या कालविशेष की परिधि में इस प्रकार के शोध सीमित होते हैं।

कश्मीर की शैव परम्परा, दक्षिण भारत के देवमन्दिर, बंगदेश की शाक्त साधना, पूर्व-एशिया की रामकथा परम्परा, पञ्चतंत्र की लोकयात्रा, काशी की साहित्य साधना, वैदिक काल से पौराणिक काल तक काशी का स्वरूप, उन्नीसवीं/बीसवीं/इक्कीसवीं शताब्दी के संस्कृत महाकाव्य/संस्कृत रूपक, कश्मीर की काव्यशास्त्र परम्परा, नेपाल का संस्कृत साहित्य को योगदान, भारतीय स्वातंत्र्य सङ्ग्राम में संस्कृतविदों का अवदान इत्यादि प्रकार के शोध विषय निर्धारित किये जा सकते हैं। ऐतिहासिक शासकों एवं उनके शासनकाल तथा इतिहास प्रसिद्ध व्यक्तियों को आधार बनाकर भी शोधकार्य किये जा सकते हैं। विभिन्न कालखण्डों में विरचित साहित्य तथा किये गये कार्यों पर भी शोध की प्रचुर सम्भावनाएँ हो सकती हैं।

६. सर्वेक्षणात्मक शोध - सर्वेक्षणात्मक शोध में समाज, परम्परा, भाषा साहित्य, भौगोलिक संसाधन, धर्म-संस्कृति आदि विषयों को लेकर क्षेत्र विशेष और कालविशेष के सापेक्ष्य शोधकार्य किया जा सकता है। ऐसे शोधकार्य एकाकी और सामूहिक रूप से किये जा सकते हैं। एकाकी करने में यह शोधकार्य श्रमसाध्य और समय साध्य होगा किन्तु इस प्रकार के शोधकार्य राष्ट्र के साथ ही तत्तद् विषयों के विकास अथवा उन्नयन में सर्वथा सहायक सिद्ध होते हैं।

'भारत का भाषायी सर्वेक्षण' (The Linguistic Survey of India) डॉ. जार्ज ग्रियर्सन द्वारा किया गया ऐसा ही महत्त्वपूर्ण शोधकार्य है। शिक्षा, रोजगार, कुपोषण, पर्यावरण, सामाजिक/आर्थिक/धार्मिक/सांस्कृतिक स्थिति, भाषा, बोली, साहित्य रचना आदि विषयों को लेकर ऐसे सर्वेक्षणात्मक शोधकार्य किये जा सकते हैं।

७. विवरणात्मक शोध - इस प्रकार का शोधकार्य सर्वेक्षणात्मक शोध से मिलता-जुलता है। अन्तर मात्र इतना है कि इसमें उतना क्षेत्र कार्य (Field Work) नहीं रहता। यह एक प्रकार से सङ्ग्रहात्मक शोध होता है जिसमें कोई विषय

निर्धारित करके, उससे सम्बद्ध सामग्री एकत्र की जाती है और समुपलब्ध आँकड़ों के आधार पर निष्कर्ष का प्रतिपादन किया जाता है।

वैदिक संहिताओं के भाष्य, श्रीमद्भगवद्गीता की संस्कृत टीकाएँ एवं विभिन्न भाषाओं में अनुवाद, मेघदूत की टीकाएँ, महाभारत शब्दानुक्रमणी, महाभारत में वर्णित वनस्पतियाँ, महाभारत युद्ध में प्रयुक्त शस्त्रास्त्र, वाल्मीकि रामायण शब्दानुक्रमणी, रामायण में वर्णित नदी, पर्वत, वन तथा मुनियों के आश्रम, हिन्दू-धर्मकोश, दर्शनशब्दावली, कालिदासशब्दानुक्रम, बृहत्त्रयी में प्रयुक्त निपात इत्यादि विवरणात्मक शोध के विषय हो सकते हैं।

८. पाण्डुलिपि सम्पादन (विषयक शोध) – सम्प्रति प्राचीन, महत्त्वपूर्ण एवं अप्रकाशित पाण्डुलिपियों के व्यवस्थित सम्पादन को भी शोधकार्य की मान्यता प्राप्त है। इस विषय में ग्रन्थ के चतुर्थ अध्याय में विशेष रूप से प्रकाश डाला जायेगा।

अपने ग्रन्थ, 'शोध प्रविधि एवं पाण्डुलिपि विज्ञान' में प्रो. अभिराज राजेन्द्र मिश्र ने डॉ. गोविन्द द. गन्धे के 'शोधालोक' के आधार पर शोध के प्रकारों का उल्लेख किया है। इन दोनों विद्वानों के प्रति आभार व्यक्त करते हुए उन शोध प्रकारों को यथावदुद्धृत किया जा रहा है।

"आधुनिक शैक्षणिक पाठ्यक्रमों के विशेषज्ञ विद्वानों के अनुसार, शैक्षणिक अनुसन्धान के निम्नलिखित प्रकार होते हैं"–

(१) अवलोकन अनुसन्धान – अवलोकन का तात्पर्य है वास्तविकता, तथ्य, व्याख्या को संग्रहीत करके उसको लिखना। अथवा, उन्हें परोक्ष सामाजिक विज्ञान के क्षेत्र में बड़े व्यापक क्षत्र में प्रयुक्त किया गया है, जिससे अवलोकन कर्ताओं को सामाजिक क्रियाकलापों में सम्मिलित होना पड़ता है और उसके आस-पास होने वाली क्रियाओं को देखना पड़ता है। अवलोकन अनुसन्धान के लिए अवलोकन सर्वे प्रयोग में लिखा जाता है। खगोल विज्ञान में बहुत से तथ्य अवलोकन के द्वारा ही ज्ञात किये जाते हैं। यह अनुसन्धान के प्रथम चरण का निर्माण करता है।

(२) आनुभविक अनुसन्धान – इस अनुसन्धान के अन्तर्गत अवलोकन के परिणामों को सङ्कलित करके वर्गीकृत किया जाता है और उनके आधार पर सांख्यिकी विधि से निष्कर्ष निकाल कर साधारण समीकरण, सह-सम्बन्ध तथा निश्चित तथ्यों के सामान्यीकरण सम्बन्धों का प्रयोग किया जाता है। उन्हें पूर्वानुपाती आयाम कहते हैं। जिस मानसिक प्रक्रिया के आधार पर नियमों को निकालते हैं, उन्हें अनुमान

कहते हैं। अनुमान के लिए आवश्यकतानुसार बुद्धि की अपेक्षा होती है। इसे आनुभविक अनुसन्धान की संज्ञा दी जाती है। यह अनुसन्धान-वास्तविक अनुसन्धान है।

(३) मौलिक अनुसन्धान – आनुमानिक नियमों के विपरीत मौलिक नियम बिना किसी बौद्धिक साधना के प्राप्त किये जा सकते हैं। वास्तव में, इनमें आन्तरिक ज्ञान का अत्यधिक प्रभाव होता है। आन्तरिक ज्ञान द्वारा बिना किसी बुद्धि व्यायाम के, चेतना, बुद्धि, प्रत्यक्ष आदि वस्तुओं की जानकारी स्वतः ही हो जाती है।

एक मनुष्य, जिसे यह ज्ञान हो जाता है, उसे सिद्ध या सन्तमहात्मा कहते हैं।

(४) पूर्व अनुसन्धान – इसके अन्तर्गत हम जिस प्रक्रिया में कार्य करते हैं, वह अनुमान है। अनुसन्धान के अन्तर्गत बुद्धि की एक मुख्य भूमिका होती है। इसके दो भाग होते हैं– (१) विशुद्ध अनुसन्धान, (२) अनुप्रयुक्त अनुसन्धान।

(५) विकासात्मक अनुसन्धान – विकासात्मक अनुसन्धान वह शब्द है जो या तो पूर्वगामी अनुसन्धान है या प्रयोगवादी अनुसन्धान से उत्पन्न होता है, तथा यह पूर्व प्राप्त परिणाम जो आवश्यक एवं तत्कालीन उपयोगिता को प्राप्त करने के लिये किये जाते हैं, के मध्य सम्बन्ध तथा सुधार लाता है। इस अनुसन्धान की आवश्यकता सभी उद्योगों में जानी जाती है तथा कई उद्योगों के पार्श्व में इस विकासात्मक अनुसन्धान को देखा जा सकता है।"

जैसा कि पूर्वतः कहा जा चुका है, शोध के अनेक रूप और प्रकार हो सकते हैं। यह शोध प्रकारता, विषय के गौरव और शोधार्थी की क्षमता पर निर्भर करती है। आधुनिक शैक्षणिक सन्दर्भ में शोध की विषय वस्तु और उसके निबन्धन के आधार पर शोध को अधोलिखित प्रकार से उपस्थापित किया जा सकता है–

१. अति लघु शोध – प्रायः सभी विषयों में शोधार्थी 'शोधनिबन्ध' अथवा शोधपत्र लिखते हैं। इन शोधपत्रों का उद्देश्य होता है न्यूनतम अवधि में शोध की अधिकतम अभिव्यक्ति। ये शोधपत्र शोधसङ्गोष्ठियों, विद्वद्गोष्ठियों, सम्मेलनों में प्रस्तुत करने के लिए लिखे जाते हैं, जहाँ इनके प्रस्तुतीकरण की एक निश्चित समय सीमा होती है। उसी समय सीमा में विद्वान् शोधार्थी को अपना शोधपत्र प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करना होता है तथा उस पर केन्द्रित प्रश्नों का समाधान भी करना पड़ता है। ऐसी गोष्ठियों में प्रायः आयोजकों द्वारा निर्धारित विषय पर ही शोधपत्र लिखे जाते हैं। शोधपत्रिकाओं एवं अभिनन्दन/स्मृति ग्रन्थों के लिए लिखे जाने वाले शोधपत्र स्वतंत्रतया और इच्छित समयावधि वाले होते हैं। इन शोधपत्रों के लेखन का आदर्श होता है–

'मितं च सारं च वचः।'

२. लघुशोध – जिन विषयों पर 'अति लघुशोध' होता है, उन विषयों पर लघुशोध भी किया जा सकता है। इनके प्रस्तुतीकरण में शोधपत्र की अपेक्षा विस्तार अधिक होता है। किन्हीं विश्वविद्यालयों में एम.ए. स्तर के छात्रों के लिए वैकल्पिक रूप से लघुशोध निर्धारित होता है अन्यथा, एम.फिल्. की उपाधि के पाठ्यक्रम में लघुशोध सम्पन्न करके उसे प्रस्तुत करना अनिवार्य है। एम.फिल्. पाठ्यक्रम वस्तुतः शोध का प्रथम सोपान माना जाता है।

३. सामान्य शोध – किसी अस्पृष्ट, गम्भीर और महत्त्वपूर्ण विषय अथवा ग्रन्थ पर कम से कम दो वर्ष की अवधिपर्यन्त शोध करके शोधप्रबन्ध प्रस्तुत किया जाता है। ऐसा शोध पीएच.डी. अथवा डी.फिल्. की उपाधि प्राप्त करने के लिए किया जाता है।

४. बृहत्-शोध (बृहच्छोध) – डी.लिट्. या डी.एससी. उपाधि के लिए किया जाने वाला शोध इसके अन्तर्गत आता है। पीएच./डी.फिल्. उपाधि प्राप्त प्रौढ़ ज्ञान वाला शोधार्थी ही ऐसा शोध करने के लिए अर्ह माना जाता है। शोध की कालावधि और शोधप्रबन्ध का आकार भी बृहत्तर होता है। शैक्षणिक दृष्टि से यह उच्चतम कोटि की गुणवत्ता से युक्त शोध होता है।

सेवारत या सेवानिवृत्त अध्यापक विभिन्न संस्थाओं से वित्तीय अनुदान प्राप्त कर लघु अथवा बृहत् शोध परियोजनाएँ भी सञ्चालित करते हैं तथा अपना 'शोध प्रतिवेदन' प्रस्तुत करते हैं।

शोध प्रविधि की पद्धतियाँ – यदि हम विचारपूर्वक देखें तो पायेंगे कि शोध की भारतीय परम्परा में शोध प्रविधि की दो ही पद्धतियाँ दृष्टिगोचर होती है।– एक तो साहित्यिक पद्धति और दूसीर शास्त्रीय पद्धति। साहित्यिक पद्धति भाषा-साहित्य से सम्बन्ध रखती है और शास्त्रीय पद्धति शास्त्रों से। वस्तुतः आज जिसे आधुनिक शोधकर्ता 'वैज्ञानिक पद्धति' कहते हैं, वह शास्त्रीय पद्धति ही है। अधुनातन ज्ञान विज्ञान के समस्त विषय इसी शास्त्रीय प्रविधि (पद्धति) के अन्तर्गत ही गृहीत हो जाते हैं।

शोध हेतु अर्हता/योग्यता/पात्रता – वर्तमान शैक्षणिक परिवेश में, जहाँ उपाधियाँ प्राप्त करना ही शिक्षा का उद्देश्य रह गया है, ज्ञानार्जन नहीं, वहाँ छात्र आचार्य/एम.ए. परीक्षा उत्तीर्ण होते ही या तो बी.एड्. करने के लिए लपकता है या एम्.फिल्. अथवा पीएच.डी. करने के लिए ललकता है। स्थिति यह हो गयी है कि

'बिच्छू का मंत्र न जाने सर्प की बिल में हाथ डाले।' उपाधियाँ बटोरने की यह चाहत वस्तुतः उपाधियों को आजीविका प्राप्ति का साधन बना देने के कारण है। अब पीएच.डी. में पञ्जीकरण से पूर्व इसके लिए प्रवेश परीक्षा उत्तीर्ण होना अनिवार्य कर दिया गया है। इससे स्थिति में कुछ सुधार अवश्य हुआ है।

किसी भी विद्या/विषय में ज्ञानार्जन हेतु 'अनुबन्ध चतुष्टय' का विशेष महत्त्व बताया गया है। उसमें भी 'अधिकारी' उल्लेख्य है। शिक्षा और दीक्षा देने के पूर्व आचार्य 'अधिकारी' की परख अवश्य करते थे। उनकी दृष्टि में जो अभ्यर्थी अधिकारी नहीं होता था, उसे वह विद्या या विद्या का रहस्य नहीं बताते थे। प्राचीन काल में– 'वेदाध्ययन का अधिकारी कौन?' इसका विवेचन बहुत हुआ करता था। 'अधिकारी' का अभिप्राय 'सत्पात्र' से है। पात्रता का विचार तो सर्वत्र होता है। सभी विषयों में सबकी पात्रता समान नहीं होती। आचार्य द्रोण ने अनेक शस्त्र विद्याओं का रहस्य अपने पुत्र अश्वत्थामा को न बताकर अपने शिष्य अर्जुन को बताया था क्योंकि वे अर्जुन को ही उसका अधिकारी (अर्ह पात्र) समझते थे। किसी भी विद्या/विषय के ज्ञान का अधिकारी वही हो सकता है जो गुरु से प्राप्त उस ज्ञान का संरक्षण-संवर्धन करे और किसी भी स्थिति में उसका दुरुपयोग न करे। अतः, शोध के सन्दर्भ में भी अर्हता/योग्यता/पात्रता के सम्बन्ध में विचार करना आवश्यक है।

संस्कृत वाङ्मय में एतद्विषयक सङ्केत प्राप्त होते हैं। हविर्द्रव्य की आहुति अग्नि में डाली जाती है, न कि राख अथवा पानी में। महाकवि कालिदास कहते हैं– "क्रिया हि वस्तूपहिता प्रसीदति"। (रघुवंश., ३/२९)। अर्थात्, शिक्षा अधिकारी व्यक्ति को दी जाने पर ही फलवती होती है। इस स्थल की संजीवनी टीका में मल्लिनाथ सूरि ने कौटिल्य (अर्थशास्त्र) का उद्धरण दिया है– "क्रिया हि द्रव्यं विनयति नाद्रव्यम्"। हितोपदेश में भी इसी आशय की सूक्ति प्राप्त होती है–

> **"नाद्रव्ये निहिता (विहिता) काचित् क्रिया फलवती भवेत्।**
> **न व्यापारशतेनापि शुकवत् पाठ्यते बकः।।"**

मालविकाग्नि मित्र नाटक में महाकवि कालिदास का कथन है–

> **"पात्रविशेषे न्यस्तं गुणान्तरं व्रजति शिल्पमाधातुः।**
> **जलमिव समुद्रशुक्तौ मुक्ताफलतां पयोदस्य।।"** (१/६)

अर्थात्, पात्र-विशेष (सर्वथा उपयुक्त पात्र=व्यक्ति) में न्यस्त किया गया (स्थापित किया गया, सम्यक् सन्धान किया गया) शिल्प (कला या विशेष विद्या) ही गुणवत्ता को प्राप्त करता है जिस तरह कि समुद्र की सीपी में पड़ने वाला वर्षा का

(बादलों से गिरा हुआ) जल ही मोती बनता है।

उत्तररामचरित नाटक में महाकवि भवभूति भी कुछ इसी प्रकार का भाव व्यक्त करते हैं-

''वितरति गुरुः प्राज्ञे विद्यां यथैव तथा जडे
न तु खलु तयोर्ज्ञाने शक्तिं करोत्यपहंति वा।
भवति हि पुनर्भूयान्भेदः फलं प्रति तद्यथा
प्रभवति शुचिर्बिम्बग्राहे मणिर्न मृदादयः।।'' (२/४)

अर्थात्, गुरु व्युत्पन्न शिष्य और मन्द बुद्धि शिष्य को समान रूप से विद्या प्रदान करता है। वह उन दोनों के ज्ञान में न तो सामर्थ्य की वृद्धि करता है और न ही सामर्थ्य को घटाता है। किन्तु गुरु प्रदत्त विद्या के फल में बहुत अधिक अन्तर हो जाता है (क्योंकि) स्वच्छ मणि ही प्रतिबिम्ब ग्रहण में समर्थ होती है, मिट्टी के ढेले जैसे अन्य पदार्थ नहीं।

प्रस्तुत सन्दर्भ में महाकवि भवभूति का एक अन्य कथन भी उल्लेख्य है जिसे उन्होंने मालती माधव (नामक प्रकरण) में उपन्यस्त किया है-

शास्त्रे प्रतिष्ठा सहजश्च बोधः प्रागल्भ्यमभ्यस्तगुणा च वाणी।
कालानुरोधः प्रतिभानवत्वमेते गुणाः कामदुघा क्रियासु।। (३/११)

उपर्युक्त श्लोक को अपने 'साहित्यानुसन्धानावबोधप्रविधिः' के पृष्ठ १७ पर उद्धृत करते हुए समर्थ विद्वान् प्रो. रहस विहारी द्विवेदी ने इस विषय में अपना विमर्श प्रस्तुत किया है- 'प्रतिभा व्युत्पत्ति और अभ्यास से युक्त छात्र ही शोधकार्य में सम्यग् रूप से सफल होता है। किसी भी प्रकार की शास्त्रसाधना के लए महाकवि भवभूति द्वारा आवश्यक गुण इस प्रकार बताये गये हैं- (१) शास्त्र का सम्यग् ज्ञान, (२) सहज अवबोध, (३) अपने दृष्टिकोण को व्यक्त करने में निर्भीकता, (४) भाषा प्रयोग में निपुणता, (५) युगबोध और (६) प्रतिभा की मौलिकता- ये छह गुण कामधेनु के समान (सभी क्रियाओं में) फलदायक होते हैं।'

इसी तारतम्य में प्रो. द्विवेदी आगे लिखते हैं- 'शास्त्र कवि का सामर्थ्य राजशेखर ने काव्यमीमांसा के शास्त्रनिर्देश अध्याय में बताया है जो शोधकर्ता के गुण के लिए भी उपयोगी है-

भवति प्रथन्नर्थं लीनं समभिलुप्तं स्फुटीकुर्वन्।
अल्पमनल्पं रचयन्ननल्पमल्पं च शास्त्रकविः।।

(अर्थात्), शास्त्र कवि छिपे अर्थ का विस्तार करता है, लुप्त को प्रकट

करता है, अल्प को विस्तृत करता है और विस्तृत को संक्षिप्त करता है।

अन्ततः इस विषय में स्वाभिमत का प्रकाशन करते हुए प्रो. रहस विहारी द्विवेदी लिखते हैं-

''अमन्दोऽतनुवाग्वेत्ता शोधस्य विषये प्रधीः।
तत्त्वसाक्षात्कृतौ दक्षो रागद्वेषविवर्जितः।।६।।
सत्यनिष्ठो तटस्थश्च निर्भीकः प्रतिभान्वितः।
युगबोधी गुरोर्भक्तः शोधकर्ता प्रकल्पते।।७।।''[१२]

(अर्थात्), ''आलस्यरहित (तेजस्वी), प्रतिभावान्, वाणी पर असाधारण अधिकार रखने वाला, शोध विषय का सम्यग् ज्ञाता, तत्त्वसाक्षात्कार करने में दक्ष, राग और द्वेष से रहित, सत्य में निष्ठा रखने वाला, तटस्थ, निर्भीक, प्रतिभा से युक्त, युगबोध रखने वाला और गुरु का भक्त शोध करने में सफल होता है।''

मेरा स्वयं का अनुभव है कि कुछ शोधच्छात्र पञ्जीकरण होने के पूर्व इतने व्यग्र और उतावले रहते हैं कि वे पञ्जीकरण होते ही शोध प्रबन्ध प्रस्तुत कर देंगे किन्तु पञ्जीकरण के पश्चात् उनका पता ही नहीं चलता और वे शोधकार्य प्रारम्भ ही नहीं करते, पूरी अवधि बीत जाती है। कुछ शोधच्छात्र प्रारम्भ तो करते हैं किन्तु शोध में आने वाली कठिनाइयों या अन्य कारणों से शोध को बीच में ही छोड़ देते हैं। शेष शोधच्छात्र निष्ठापूर्वक लगे रहकर अध्यवसायपूर्वक शोधकार्य को पूरा करके अपना शोध प्रबन्ध प्रस्तुत करते हैं। ऐसे तीनों प्रकार के शोधच्छात्रों के विषय में अधोलिखित बहुश्रुत सुभाषित लागू होता है-

'प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः
प्रारभ्य विघ्नविहताः विरमन्ति मध्याः।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः
प्रारभ्य चोत्तमजनाः न परित्यजन्ति।।'

इस आधार पर, शोधार्थियों को अधम, मध्यम और उत्तम- इन तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। ऊपर शोधार्थी के जितने गुण बताये गये, शोध की सफलता के लिए उनकी जो अर्हता/योग्यता/पात्रता बतायी गयी, वह सब निश्चय ही उत्तम श्रेणी के शोधार्थियों के सम्बन्ध में यथार्थ हैं। अतः शोध का अधिकारी पात्र वही है जिसमें उपर्युक्त गुण या अर्हता हो।

सुधी विद्वान् प्रो. अभिराज राजेन्द्र मिश्र का मत है कि अनुसन्धानात्मक ज्ञान

१२. साहित्यानुसन्धानावबोधप्रविधिः, पृ. १७.

की सफलता निर्भर होती है अनसुन्धाता की पात्रता पर और उसकी पात्रता है- उसकी सांसारिक प्रतिभा, बहुश्रुतता तथा उसका परिश्रम, अध्यवसाय।[१३]

एक उत्तम शोधार्थी की अर्हता/योग्यता/पात्रता का निर्धारण हम इस प्रकार कर सकते हैं-

(क) उसने सम्बद्ध विषय में अच्छे अङ्क प्राप्त कर स्नातकोत्तर उपाधि धारण की हो।[१४]

(ख) उसे शोध का प्रारम्भिक सामान्य ज्ञान हो।

(ग) उसे शोध विषय का गम्भीर ज्ञान हो तथा अन्य सम्बद्ध विषयों (शास्त्रों) से भी वह अच्छी तरह परिचित हो।

(घ) वह व्युत्पन्न एवं प्रतिभाशाली हो (प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता)। उसमें विवेकशीलता हो और वह अन्धविश्वासी न हो।[१५]

(ङ) वह अप्रमादी एवं स्वाध्याय-निरत हो। आलसी और दीर्घसूत्री न हो।

(च) उसका भाषा-ज्ञान विशद हो।

(छ) उसकी सोच पक्षपात रहित हो अर्थात् वह पूर्वाग्रही और दुराग्रही न हो।

(ज) निष्ठापूर्वक निरन्तर प्रयत्नशील हो तथा लक्ष्यसिद्धि के प्रति कटिबद्ध हो।

(झ) वह धैर्यशाली हो तथा दुरूहता और बाधाओं से उद्विग्न न हो।

(ञ) विनयशील, मितभाषी, सत्यनिष्ठ तथा मधुर व्यवहार वाला हो।

(ट) राग-द्वेष रहित हो तथा ईर्ष्यालु न हो।

(ठ) स्थिर चित्त हो, निर्णय लेने की क्षमता वाला हो तथा अपने कथ्य को दृढ़ विश्वास के साथ प्रस्तुत करने वाला हो।

(ड) देश-काल का सम्यग् विमर्श करने में समर्थ हो।

(ढ) अतिवादी और अहङ्कारी न हो।

(ण) अपने विचारों को सहज और सरल अभिव्यक्ति देने में समर्थ हो।

(त) पारम्परिक संसाधनों के साथ ही आधुनिक संसाधनों के प्रयोग में भी कुशल हो (यथा- कम्प्यूटर, ई-मेल, इण्टरनेट, वेबसाइट आदि की जानकारी तथा प्रयोग)।

---

१३. शोधप्रविधि एवं पाण्डुलिपि विज्ञान, पृ. १२.

१४. उपाधि निरपेक्ष स्वतंत्र शोधकार्य के लिए अपेक्षित नहीं।

१५. पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः।।

(थ) शारीरिक और मानसिक रूप से स्वस्थ हो।

(द) आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न/स्वावलम्बी हो (यतः- सर्वारम्भाः तण्डुलप्रस्थमूलाः)।

(ध) प्रपञ्ची और तिकड़मबाज न हो।

(न) अपने निर्देशक (आचार्य, गुरु) का विश्वास पात्र हो तथा उनमें श्रद्धा रखने वाला हो।

●

२

द्वितीय अध्याय

संस्कृत शोध-प्रविधि

शोध प्रविधि में 'प्रविधि' का अर्थ

गेहूँ के मामा की तरह ही 'प्रविधि' शब्द भी संस्कृत शब्द जैसा प्रतीत होता है किन्तु प्राचीन संस्कृत वाङ्मय में 'प्रविधि' शब्द का व्यवहार नहीं हुआ है। यही कारण है कि प्राचीन के साथ ही आधुनिक 'संस्कृत शब्दकोशों में भी 'प्रविधि' शब्द का पाठ नहीं किया गया है। वस्तुतः आवश्यकता के अनुसार, अर्थ का बोध कराने के लिए, व्यवहार में प्रयुक्त करने के लिए नये शब्द गढ़े जाते हैं, उनका निर्माण किया जाता है और व्यवहृत होने पर, समय के अनुरोधवशात् भाषा अपनी प्रकृति के अनुसार ऐसे गढ़े गये शब्दों को अपने में पचा (खपा) लेती है, समाहित कर लेती है।

आपको ऐसे अनेक शब्द संस्कृत का चोला पहने हुए मिल जायेंगे, जिनका मूल किसी अन्य भाषा का शब्द है और वे हिन्दी या संस्कृत में उस शब्द के अनुवाद के रूप में गढ़े गये हैं। आजकल का बहुप्रचलित शब्द 'पर्यावरण' भी ऐसा ही है, जो अंग्रेजी के ENVIRONMENT शब्द के अनुवाद के रूप में गढ़ा गया है। इसी प्रकार, 'प्रविधि' शब्द भी अंग्रेजी के METHODOLOGY के अनुवाद के रूप में गढ़ा गया है। किन्तु 'प्रविधि' शब्द का निर्माण, अनुवाद की परम्परागत मान्यता का विचलन करके किया गया है (और इसे जानना भी शोध की दृष्टि से मनोरञ्जक होगा)। अंग्रेजी भाषा में 'LOGY' प्रत्यय 'शास्त्र' या 'विज्ञान' का बोध करने के लिए लगाया जाता है। यथा- PHILOLOGY (भाषाशास्त्र या भाषा विज्ञान), SOCIOLOGY (समाजशास्त्र या समाज विज्ञान), BIOLOGY (प्राणिशास्त्र या प्राणि विज्ञान) इत्यादि।

'METHODOLOGY' शब्द भी 'METHOD' में 'LOGY' प्रत्यय लगाने से बना है। METHOD का अर्थ है – विधि, तरीका, रीति, पद्धति आदि। अब यदि उपर्युक्त पारम्परिक तरीके से इस शब्द का अनुवाद किया जाय तो शब्द बनेंगे- विधिशास्त्र, तरीकाशास्त्र, रीतिशास्त्र, पद्धतिशास्त्र या विधिविज्ञान इत्यादि। 'विधि' शब्द के अनेक अर्थ हैं जिनमें से एक है नियम या कानून जिसे अंग्रेजी में LAW कहते हैं। ऐसी स्थिति में यहाँ एक अनभीष्ट अर्थान्तर होगा। अतः METHODOLOGY की अभिव्यक्ति के लिए 'प्र' उपसर्ग 'विधि' के साथ लगाकर 'प्रविधि' शब्द का निर्माण किया गया और इस अर्थ का बोध कराने के लिए प्रचलन में अपना लिया गया। संस्कृत व्याकरण के अनुसार 'प्र' उपसर्ग धातु, विशेषण और संज्ञा पदों के साथ लगकर जितने भी अर्थ व्यक्त करता है, उनमें से शायद ही कोई अर्थ 'प्रविधि' में लगा हुआ 'प्र' व्यक्त कर सके। यहाँ इसका एक अर्थ 'उपक्रम' किसी तरह माना जा सकता है। संस्कृत में 'विधि' शब्द नित्य पुंल्लिङ्ग है अतः 'प्रविधि' शब्द भी पुंल्लिङ्ग है।

शोध प्रविधि पर लेखनी चलाने वाले विद्वान् लेखकों में से बहुत कम ने 'प्रविधि' के सम्बन्ध में विधिवत् विचार किया है। प्रो. रहस विहारी द्विवेदी ने इस शब्द पर (संरचना और अर्थ के सम्बन्ध में) थोड़ा प्रकाश डाला है। उनका कथन है- "शोध प्रबन्ध के विन्यास की प्रक्रिया प्रविधि है। जगत् की सृष्टि करने वाले ब्रह्मा को विधि कहा जाता है। इसी में 'प्र' उपसर्ग लगाकर विधि लिखने पर प्रविधि शब्द बनेगा जो सर्जन के विधान का वाचक है। ब्रह्मा की रचना में नियति, नियम, सृष्टि के लिए अपेक्षित हैं। साहित्यिक कृतियों (काव्यादि) के लिए मम्मट आदि आचार्य नियतिकृत नियमों का अभाव मानते हैं। लोक और शास्त्र को आधार बनाकर साहित्यिक रचनाएँ की जाती हैं। इन्हीं (लोक और शास्त्र) की दृष्टि से विज्ञजन कृतियों का अनुसन्धान करते हैं। साहित्य केवल एक ही रूप में नहीं रचा जाता अतः अनुसन्धान की प्रविधि में भी भिन्नता होती है। इसलिए उसका निश्चित स्वरूप बताने में कौन समर्थ हो सकता है? शोध-प्रविधि का स्थूल रूप ही बताया जा सकता है जो सर्वव्यापक और अनिवार्य है। जैसे निवास गृह कैसा भी हो, कुछ अनिवार्य कक्षादि तो रहते ही हैं; उसी प्रकार, कुछ निश्चित तत्त्व हैं जो सभी शोध प्रबन्धों में निश्चित रूप से रहते हैं। शयनकक्ष, शौचालय, सामग्री संग्रह कक्ष आदि किसी भी निवास गृह में होते हैं। उसी प्रकार, शोध में भूमिका, मुख्य तत्त्व का

प्रतिपादन, उपसंहार और सन्दर्भों का सङ्केत- ये सभी शोध प्रबन्धों में रहते हैं।"[1]

यहाँ प्रो. द्विवेदी ने शोधप्रविधि के अभिप्राय को अभिव्यक्त करने का प्रशंसनीय प्रयास किया है। 'विधि' का अर्थ 'विधाता = ब्रह्मा' अवश्य है किन्तु वह अर्थ 'प्रविधि' में सङ्गत नहीं हो पा रहा है। जैसा कि सर्वविदित है, शोध कोई सर्वथा नूतन निर्माण नहीं है (Research is not a new creation)। प्रकृत प्रसंग में ब्रह्मा को निर्देशक (Superviser) माना जा सकता है। उनकी देखरेख में निर्माण का कार्य तो प्रजापति, विश्वकर्मा आदि करते हैं। अपि च, 'प्रविधि' शब्द METHODOLOGY का भाषान्तरवर्ती गढ़ा गया शब्द (coined word) है। इसीलिए 'प्रविधि' शब्द प्राचीन संस्कृत वाङ्मय, अथ च, कोशों में समुपलब्ध नहीं है। अतः कोशों में प्रदत्त विधि का अनुष्ठान, अभ्यास, कृत्य, कर्म, प्रणाली, रीति, पद्धति, साधन, ढंग, नियम, समादेश, व्यवहार, आचरण, रचना, बनावट आदि सङ्गत अर्थ ही ग्रहण करना समीचीन होगा और पुनः उसमें 'प्र' उपसर्ग लगाकर अभीष्ट अर्थ में इस शब्द को निष्पन्न करना चाहिए।

इस प्रकार, 'शोध प्रविधि' वह प्रकृष्ट वैज्ञानिक (सुव्यवस्थित) रचना, प्रक्रिया या पद्धति है जिसमें शोध के सभी आवश्यक (अनिवार्य) तत्त्वों का समावेश करते हुए शोधकार्य सम्पन्न करके उसे प्रबन्धात्मक रूप से उपस्थापित किया जाता है।

संस्कृत वाङ्मय में शोध

मानविकी के अनेक विषयों में संस्कृत वाङ्मय भी एक है और यह कहना

---

१. शोधप्रबन्धविन्यासप्रक्रिया प्रविधिर्मतः।
जगत्सृष्टिकरो ब्रह्मा विधाता विधिरुच्यते।।
सर्जनप्रक्रियार्थेऽतः प्रपूर्वो विधिरुच्यते।
नियतेर्नियमाः सृष्टावपेक्ष्यन्ते विधेः कृतौ।।
तद्साहित्यं हि काव्यादौ मन्यन्ते मम्मटादयः।
लोकशास्त्रे समाश्रित्य साहित्यं सृज्यते बुधैः।
तदनुध्यानमेवात्र शोधे विज्ञैर्विधीयते।।
स्थूलदृष्ट्यैव यद्रूपं सर्वव्यापि विराजते।
वक्तुं तत्सम्भवं जातु यथा वासौकसां स्थितौ।।
तथा ध्रुवाणि शोधेऽपि सन्ति तत्त्वानि कानिचित्।
कलाविश्रामपाकादिकक्षाणां हि गृहे स्थितिः।।
शोधे च भूमिका तत्त्वसन्धानमुपसंहृतिः।
सन्दर्भाणां च सङ्केतः प्रस्तूयन्तेऽनिवार्यतः।।
– प्रो. रहसविहारी द्विवेदी : साहित्यानुसन्धानावबोधप्रविधिः, पृ. १८-१९, श्लो. १-७।

अनुचित न होगा कि उन सभी विषयों में यह सर्वप्रथम या सर्वप्राचीन है। संसार में इस समय उपलब्ध ग्रन्थ अथवा साहित्य में वेदों से प्राचीन अन्य कोई ग्रन्थ या साहित्य नहीं है। निःसन्देह वैदिक साहित्य सर्वप्राचीन है। विद्वानों की मान्यता है कि वेद अपौरुषेय हैं। अर्थात्, मनुष्य ने वेदों (तद्गत मंत्रों) की रचना नहीं की है। वैदिक ऋषियों ने उनका दर्शन किया है, साक्षात्कार किया है- 'ऋषयो मंत्रद्रष्टारो न तु कर्तारः।' यहाँ इसी 'द्रष्टारः' पद में शोध का बीज सन्निविष्ट है। कहने का अभिप्राय है कि ऋषियों ने अपनी तपःपूत प्रज्ञा (मेधा) से उन परमेश्वर-प्रदत्त मंत्रों का अन्तःसाक्षात्कार किया और उन्हें श्रुति परम्परा में स्थापित किया, प्रतिष्ठित किया। ये मंत्र वस्तुतः उन महर्षियों के द्वारा शोध (खोज) से प्राप्त किये गये और 'वेदात्सर्वं प्रसिध्यति' न्याय से वेदों की सत्ता के साथ ही शोध की सत्ता भी सिद्ध है। इसे सामान्य रूप से कहा जा सकता है कि संस्कृत वाङ्मय में शोध वैदिक काल से ही प्रारम्भ है। वैदिक साहित्य का प्रथन इसी शोध का प्रतिफलन है। वेद (संहिताएँ), ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदें तथा षड्वेदाङ्ग। आर्ष-मनीषियों ने यह भी स्वीकार किया कि वेदार्थ का उपबृंहण करने के लिए इतिहास (रामायण, महाभारत) तथा पुराणों की रचना हुई- 'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।' इस प्रकार, संस्कृत शोध का आयाम निरन्तर विस्तार को प्राप्त करता चला गया।

संस्कृत वाङ्मय अत्यन्त गम्भीर (गहरा) और व्यापक है। उसमें न जाने कितने विषय (विद्याएँ) समाविष्ट हैं। इसीलिए संस्कृत वाङ्मय में शोध की अपार संभावनाएँ हैं। एक-एक मंत्र, एक-एक सूत्र, एक-एक कारिका, एक-एक बन्ध और एक-एक ग्रन्थ पर अनेक-अनेक दृष्टियों से गम्भीर शोध किये जा सकते हैं। यदि हम अधुनातन साहित्य के साथ उनमें आधुनिक ज्ञान-विज्ञान को भी जोड़ दें तो शोध की अनन्त कोटियाँ हो जायेंगी। संक्षेपतः संस्कृत शोध के क्षेत्रों का परिगणन इस प्रकार किया जा सकता है-

१. संहिताएँ (ऋक्, यजुष्, साम, अथर्व) - मंत्र, ऋषि, देवता, छन्द। चारों संहिताओं का अन्तःसम्बन्ध।

२. उपवेद - आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद एवं स्थापत्य (वास्तु) वेद।

३. प्रत्येक संहिताओं के ब्राह्मण ग्रन्थ एवं यज्ञ संस्थाएँ।

४. आरण्यक ग्रन्थ

५. उपनिषत्साहित्य, अन्तर्निविष्ट तत्त्वदर्शन एवम् आख्यान।

६. वेदाङ्ग - व्याकरण (प्रातिशाख्य), छन्द, ज्योतिष्, निरुक्त, कल्प (गृह्यसूत्र,

धर्मसूत्र, शुल्व सूत्र) और शिक्षा।

७. स्मृतिग्रन्थ (धर्मशास्त्र)

८. पुराण - १८ पुराण, १८ उपपुराण, १८ औप पुराण

९. रामायण (आदिकाव्य)

१०. महाभारत

११. दर्शन ग्रन्थ - पूर्व मीमांसा, उत्तर मीमांसा (वेदान्त), योग दर्शन, सांख्य दर्शन, न्याय दर्शन, वैशेषिक दर्शन, चार्वाकदर्शन, जैन दर्शन, बौद्ध दर्शन के अतिरिक्त साम्प्रदायिक दर्शन, यथा- विविध शैव दर्शन, वैष्णव दर्शन, शाक्त दर्शन इत्यादि।

१२. अर्थशास्त्र

१३. नीतिशास्त्र

१४. नाट्यशास्त्र

१५. काव्यशास्त्र (अलङ्कार, रस, रीति, वक्रोक्ति, औचित्य एवं ध्वनि सम्प्रदाय)

१६. प्रेक्ष्य या दृश्य काव्य (नाटक, प्रकरण, नाटिकादि)

१७. श्रव्यकाव्य (महाकाव्य, खण्डकाव्य, चम्पू, गद्य-कथा, आख्यायिका आदि)

१८. व्याकरण शास्त्र (पाणिनीय-प्राचीन एवं नव्य, कालापक, चान्द्र, ऐन्द्र, सारस्वत आदि)

१९. भाष्य, टीका आदि व्याख्या ग्रन्थ

२०. जैन और बौद्ध कवियों-आचार्यों द्वारा विरचित शास्त्रीय साहित्य तथा काव्य, कथा, आख्यानादि।

२१. पाण्डुलिपियों के रूप में उपलब्ध वाङ्मय।

उपर्युक्त विषयों और उनके ग्रन्थों पर नाना दृष्टियों से स्वतंत्र शोध के अतिरिक्त तुलनात्मक तथा अन्तर्विषयी शोध का भी व्यापक आयाम है।

संस्कृत शोध का इतिहास

संस्कृत शोध का इतिहास 'ऋषिचर्या' से जुड़ा हुआ है।[२] भारतीय परम्परा में जो कुछ भी लौकिक-अलौकिक है, उसके मूल में वेद हैं। सब कुछ वहीं से

२. ऋषिचर्या 'रिसर्चा'ऽङ्ग्ल-शब्दभावावबोधिका।
तत्त्वसाक्षात्कृतिर्नूनमुभयत्र समप्रथा।।
- प्रो. रहस विहारी द्विवेदी : साहित्यानुसन्धानावबोधप्रविधिः, पृ. ४, कारिका २.

आरम्भ होता है। अतः निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि संस्कृत शोध का आरम्भ भी वेदों से ही हुआ है। समस्त आर्ष कर्तृत्व उसी शोध का परिणाम है। उसी शोध के माध्यम से ऋषियों को यज्ञ संस्थाएँ प्राप्त हुईं और किन मंत्रों का विनियोग किन यज्ञों में किस प्रकार किया जाय? वैदिक देवताओं का स्वरूप क्या है? वेदों के रहस्यात्मक सूक्तों का अभिप्राय क्या है? इत्यादि का शोध पूर्वक परिज्ञान ऋषियों ने प्राप्त किया। इस प्रकार, कहा जा सकता है कि ऋषियों के द्वारा मंत्रों का साक्षात्कार होने के साथ ही उनका शोध (विवरण = विवेचना = विनियोग) भी प्रारम्भ हो गया और उसकी फलश्रुति (निष्कर्ष) भी आ गयी- 'स्वर्गकामो यजेत्।'

'निघण्टु' का निर्माण संस्कृत शोध के आरम्भ का प्रमाण है। वैदिक मंत्रों के अर्थ को स्पष्ट रूप से समझने के लिए मंत्रगत जिन शब्दों की विशेष व्याख्या अपेक्षित थी, उन शब्दों का शोधन (चयन) करके जो शब्दावली बनायी गयी, उसी की संज्ञा 'निघण्टु' है। महर्षि यास्क ने इन शब्दों का निर्वचन किया जिसे 'निरुक्त' कहा जाता है। यह निरुक्त संस्कृत शोध की पहली कड़ी के रूप में सामने आता है। निरुक्त में वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति या निष्पत्ति न बताकर 'निरुक्ति' बतायी गयी है। निरुक्त की यह निर्वचन प्रक्रिया शब्दार्थ शोध की दिशा में अग्रेसर होती है। महर्षि यास्क को निरुक्तकार माना गया है। उन्होंने अपने से पूर्ववर्ती १७ (सत्रह) निरुक्तकारों का उल्लेख किया है। इसका अभिप्राय है कि महर्षि यास्क के बहुत पहले से यह निर्वचन प्रक्रिया अर्थात् शब्दार्थ शोध प्रक्रिया अस्तित्व में थी। इस प्रकार, शोध का आरम्भ निरुक्त से मानने में कोई विसङ्गति नहीं है।

ब्राह्मण ग्रन्थों के पश्चात् आरण्यक ग्रन्थों में जो आध्यात्मिक जिज्ञासा, मनन, चिन्तन और स्वानुभूति की प्रक्रिया (शोधपरक प्रक्रिया) विकसित हुई थी उसी का सुव्यवस्थित स्वरूप उपनिषदों में दृष्टिगोचर होता है। उपनिषदों में रहस्यात्मक वैदिक विद्याएँ उपन्यस्त हैं तथा दार्शनिक तत्त्वचिन्तन सर्वत्र व्याप्त है। एक ओर वेदों के ज्ञान मार्ग का चरम विकास उपनिषदों के माध्यम से हुआ तो दूसरी ओर कर्म मार्ग और भक्ति मार्ग का उदय भी इन्हीं से हुआ। इस प्रकार, प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्ति मार्ग दोनों का प्रतिपादन करने के कारण उपनिषदों का व्यापक अनुशीलन प्रारम्भ हुआ। यहीं से संस्कृत-शोध की एक अन्य धारा भी प्रादुर्भूत हुई। जिसे 'शास्त्रार्थ' कहते हैं। शास्त्रार्थ में ऋषियों विद्वानों के दो पक्ष होते हैं- पक्ष और विपक्ष या प्रतिपक्ष। किसी एक दार्शनिक तत्त्व (यथा- ब्रह्म, आत्मा, सृष्टि, आदि) अथवा सिद्धान्त (अद्वैत, द्वैत, त्रैत आदि) को विषय के रूप में ग्रहण कर परस्पर खण्डन-

मण्डन द्वारा तलस्पर्शी निष्कर्ष निकालने की चेष्टा की जाती है। आगे चलकर यह शास्त्रार्थ अन्य शास्त्रों अथवा विषयों में भी प्रवृत्त हुआ और सर्वत्र शास्त्रार्थमयी शोध पद्धति व्याप्त हो गयी।

इस प्रकार प्राचीन काल में, प्राचीन भारत में मुख्यतः शोध की दो प्रवृत्तियाँ प्रवर्तमान थीं- नैरुक्त पद्धति और शास्त्रार्थ पद्धति। ये दोनों पद्धतियाँ आज भी विद्यमान हैं। नैरुक्त पद्धति आधुनिक भाषा विज्ञान में यत्र कुत्रचित् प्राप्त होती है। शास्त्रार्थ का प्रयोग अब तत्त्वचिन्तन में नहीं अपितु नव्यन्याय के आश्रय से अपने वैदुष्य के प्रदर्शन मात्र के लिए होता है और वह भी मात्र लकीर पीटने के रूप में यदा-कदा सुनाई पड़ता है।

निरुक्त और शास्त्रार्थ ने वैदिक साहित्य के अर्थावबोध में पर्याप्त सहायता की। अति प्राचीन काल में ज्ञान का आदान-प्रदान (वैदिक साहित्य परक) श्रुति परम्परा के माध्यम से होता रहा। आचार्य (गुरु) अपने शिष्यों को मंत्रादि का उपदेश (प्रवचन द्वारा) करते रहे और शिष्य उनका श्रवण कर दत्तावधान हो उसे यथावत् ग्रहण करते रहे। स्मरण एवं अर्थावबोध विषयक उन्हें कोई संशय नहीं रहता था।[३] पश्चाद्वर्ती काल में जब शिष्यों की स्मरणशक्ति का ह्रास होने लगा, साथ ही बुद्धि की ग्राह्यता-धारिता भी न्यून हुई तो आचार्यों ने संहिताओं का भाष्य करना प्रारम्भ किया। भाष्यों के माध्यम से तद्विषयक शोध की परम्परा आगे बढ़ी। अन्य भी व्याकरण-दर्शन के सूत्र-कारिका ग्रन्थों की व्याख्याओं, टीकाओं की आवश्यकता अनुभूत हुई और उनके विवेचन का क्रम आगे बढ़ा।

काल की ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो शोध की नैरुक्त, शास्त्रार्थ और भाष्य-व्याख्या पद्धति मुगल काल तक चलती रही। किन्तु परवर्ती काल में भारत में विदेशियों (विशेषतः पाश्चात्त्य-आंग्ल) के आगमन के साथ ही शोध पद्धति में आमूल परिवर्तन हुआ। अभी तक अपने को सर्वाधिक सभ्य और सुसंस्कृत मानने वाले पाश्चात्त्यजनों ने जब भारत की वैदिक-लौकिक और शास्त्रीय सारस्वत सम्पत्ति देखी तो उनकी आँखें खुली की खुली रह गयीं। विशेषतः उपनिषदों के ज्ञान ने तो उन्हें अभिभूत कर दिया। (मुगल शाहजादा दाराशिकोह भी उपनिषदों से बहुत प्रभावित हुआ था।) परिणाम यह हुआ कि पाश्चात्त्य विद्वान् वैदिक ग्रन्थों तथा दार्शनिक ग्रन्थों के गहन अध्ययन और अनुसन्धान में प्रवृत्त हुए। उन्होंने (प्रायः

३. चित्रं बटतरोर्मूले वृद्धाः शिष्याः गुरुर्युवा।
गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तु छिन्नसंशयाः।। - दक्षिणामूर्तिस्तोत्र।

अधिकांश ने) भारत आकर पण्डितों से संस्कृत का ज्ञान प्राप्त किया और अध्यवसाय पूर्वक इस कार्य में लग गये। उन्होंने संस्कृत की पाण्डुलिपियों की भी खोज की। उनमें से उन्हें जो महत्त्वपूर्ण प्रतीत हुईं उनका सम्पादन-प्रकाशन कराने लगे। उनके प्रभाव से आधुनिक भारतीय विद्वानों ने भी शोध में रुचि लेनी आरम्भ की। इस प्रकार संस्कृत शोध की एक नवीन धारा प्रवाहित हुई। वर्तमान काल में इसी धारा के अनुकूल शोधकार्य प्रचलित हैं।

संस्कृत शोध की प्राचीन पद्धति

यज्ञीय मंत्रमीमांसा और वैदिक शब्दनिर्वचन को हम संस्कृत शोधगङ्गा का गोमुख कह सकते हैं। निरुक्त के परवर्ती काल में संस्कृत शोध प्रक्रिया के अन्तर्गत भाष्य, व्याख्या और टीका और इनके पर्यायों को मूलग्रन्थ का अर्थावबोध करने-कराने की दिशा में शोध प्रविधि के प्रारम्भिक स्वरूप में मान्य किया जा सकता है क्योंकि भाष्यकार या व्याख्याकार जब किसी ग्रन्थ के दुरूह स्थल की व्याख्या करने लगता है तब वह उस अंश में सन्निहित विषय के सूक्ष्मतम तत्त्वों अथवा गूढ़तम रहस्यों का सर्वतोभावेन समुन्मीलन करता ही है। अतः अब यहाँ हम भाष्य, व्याख्या अथवा टीका के स्वरूप तथा पर्यायों का विवेचन करेंगे। क्योंकि यही तो संस्कृत ग्रन्थों की व्याख्यापरक अनुसन्धान पद्धति है।

टीका और उनके पर्याय

'टीका' शब्द 'टीक्' (गतौ) धातु से निष्पन्न है। इसकी व्याकरणात्मक व्युत्पत्ति है- टीक्+क+टाप् = टीका।

'टीक्यते गम्यते ग्रन्थार्थोऽनया इति टीका' अर्थात् इसके द्वारा (किसी) ग्रन्थ के अर्थ तक पहुँचा जाता है, अतः इसे 'टीका' कहते हैं। कोशकारों ने टीका शब्द के अनेक अर्थ दिये हैं। अमरकोश में भी टीका के कई अर्थ हैं।[४] आचार्य राजशेखर ने काव्यमीमांसा में टीका के सम्बन्ध में लिखा है- 'यथासम्भवमर्थस्य टीकनं टीका।' यहाँ 'टीकनम्' का अर्थ है- 'द्योतनम्।' अभिप्राय है कि किसी ग्रन्थ के अर्थ को यथासम्भव प्रतीत कराना 'टीका' है।

आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार, टीका निरन्तर व्याख्या है- 'टीका निरन्तर-व्याख्या' (अभिधानचिन्तामणि, २.१७०)। टीका इति। गमयति अर्थान् टीका। सुगमानां (सुषमाणां) विषमाणां च निरन्तरं व्याख्या यस्यां सा तथा। अर्थात्, जो सुगम अथवा

४. लङ्का शेफालिका टीका धातकी पञ्जिकाऽढकी। (३/५/७)।
टीका = विषमपदव्याख्या (रामाश्रमी)

विषम स्थलों की स्पष्ट व्याख्या करे, वह टीका है।

मूल (ग्रन्थ) का अर्थावबोध, उसका भाव अथवा प्रतिपाद्य विषय का स्पष्टीकरण जिसके द्वारा किया जाय, वह विधि या प्रक्रिया टीका कहलाती है। आनन्दगिरि ने आद्यशङ्कराचार्य के वेदान्त भाष्य पर 'न्यायनिर्णय' नामक टीका की है। और, यह टीका का प्रथम प्रयोग है। टीका को सर्वप्राचीन शोधप्रविधि कहा जा सकता है क्योंकि टीका के अन्तर्गत जिन तत्त्वों का समावेश है, वे सारे तत्त्व शोध प्रक्रिया के अंगभूत हैं। टीका के अनेक पर्याय प्रचलित हैं जो अर्थ की दृष्टि से प्रायः समान ही प्रतीत होते हैं और सामान्यतः उनका प्रयोग भी बहुधा टीका के अर्थ में ही होता है तथापि प्रक्रिया की दृष्टि से उन सभी पर्यायों में किञ्चिद् अन्तर तो है ही। तात्त्विक विशेषताओं के आधार पर वे सभी पर्यायवाची शब्द एक ही परिवार या समुदाय के कहे जा सकते हैं। वे शब्द प्रायः अधोलिखित हैं-

निरुक्त, भाष्य, व्याख्या, वृत्ति, वार्त्तिक, पञ्चिका (पञ्जिका), चूर्णि, अवचूर्णि, निर्युक्ति, विवरण, विवृत्ति, दीपिका, टिप्पण या टिप्पणी, तिलक, फक्किका, समीक्षा (समालोचना), पद्धति इत्यादि।

यहाँ क्रमशः इनका स्वरूप विवेचन किया जा रहा है-

निरुक्त - शब्द का प्रथम प्रयोग छान्दोग्योपनिषद् (८/३/३) में प्राप्त होता है। इस पर आद्य शङ्कराचार्य ने अपने भाष्य में लिखा है- 'निरुक्तं निर्वचनं नान्यत्।' इस प्रकार, निरुक्त का अर्थ है- 'निर्वचन।'

वैजयन्ती कोश में निरुक्त की परिभाषा दी गयी है- 'निरुक्तं पदभञ्जना'। सिद्धशब्दार्णव कोश में भी प्रायः यही कहा गया है- 'पदभञ्जनं निरुक्तमिति।'

'निरुक्त' शब्द, 'निर्' उपसर्गपूर्वक 'वच्' धातु से 'क्त' प्रत्यय करने से निष्पन्न होता है- निर्+वच्+क्त = निरुक्त। निरुक्त का अर्थ वामन शिवराम आप्टे के संस्कृत-हिन्दी कोश में तीन प्रकार से दिया गया है- १. व्याख्या, २. निर्वचन अथवा ३. व्युत्पत्ति सहित व्याख्या।

'निघण्टु' वैदिक शब्दों का सङ्कलन है। आचार्य (महर्षि) यास्क ने निघण्टु की जो टीका की है उसका नाम 'निरुक्त' है। वेदार्थावबोध के लिए 'निरुक्त' की आवश्यकता और इसके महत्त्व को दृष्टिगत कर इसे एक वेदाङ्ग स्वीकार कर लिया गया है। इस प्रकार, मान्य छः वेदाङ्गों में निरुक्त भी एक वेदाङ्ग है। निरुक्त में वेदों के कठिन या अप्रचलित शब्दों की व्याख्या की गयी है। 'नाम च धातुजमाह निरुक्ते' के अनुसार, निरुक्त में धातु से निष्पन्न नाम अर्थात् शब्द कहे गये हैं।

वेदभाष्यकार आचार्य सायण ने निरुक्त के दो लक्षण दिये हैं-

१. 'अर्थावबोधाय निरपेक्षतया पदजातं यत्रोक्तं तन्निरुक्तम्।' अर्थात्, वेदों का पदार्थ ज्ञान करने के लिए निरपेक्ष रूप से पद-समुदाय का कथन निरुक्त है।

२. 'एकैकस्य पदस्य सम्भाविता अवयवार्था यत्र निश्शेषेणोच्यन्ते तदपि निरुक्तम्।' अर्थात्, एक-एक पद के सम्भावित अवयवार्थ (प्रकृतिप्रत्ययार्थ) जहाँ समग्रतया कहे जाँय, वह भी निरुक्त है।

वस्तुतः महर्षि यास्ककृत निरुक्त की निर्वचन पद्धति के आलोक में सायणाचार्य का यह द्वितीय लक्षण अधिक सङ्गत है। हो सकता है कि उन्होंने निरुक्त देखकर ही यह उसका द्वितीय लक्षण किया हो। इसे एक उदाहरण द्वारा स्पष्टतः जाना जा सकता है। महर्षि यास्क ने निरुक्त में 'हिरण्य' शब्द का निर्वचन किया है-

'हिरण्यं कस्मात्? ह्रियत आयम्यमानमिति वा, ह्रियते जनाज्जनमिति वा, हित-रमणं भवतीति वा, हृदयरमणं भवतीति वा, हर्यतेर्वा स्यात् प्रेप्सा कर्मणः।' (निरुक्त, २/३)।

इस प्रकार, यहाँ 'हिरण्य' शब्द के समस्त सम्भावित अवयवार्थ का निर्वचन किया गया है।

अर्थ के अनुसार प्रकृति-प्रत्यय की कल्पना करके वर्णागम, वर्ण विपर्यय, वर्णविकार, वर्णनाश और धातु की अनेकार्थता के आधार पर शब्द का निर्वचन करना निरुक्त का प्रधान प्रयोजन है। वस्तुतः निरुक्त में शब्द के अर्थों की सम्भावना मुख्य रूप से रहती है। निरुक्त से सम्बद्ध अधोलिखित उक्ति विद्वानों में प्रसिद्ध है-

वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्।।

इस प्रकार, टीका और निरुक्त में पर्याप्त अन्तर है। टीका, शब्द अथवा वाक्य के यथासम्भव अर्थ का बोध कराती है जबकि निरुक्त, शब्द की निष्पत्ति सहित या व्युत्पत्ति सहित व्याख्या को कहते हैं। निरुक्त का शाब्दिक अर्थ है- 'निःशेषेण उक्तं निरुक्तम्।' अर्थात् किसी भी शब्द या वाक्य विषयक अशेष कथन को निरुक्त कहते हैं। किसी भी वाक्य या शब्द को प्रत्येक दृष्टि से इतना अधिक स्पष्ट करना कि उसके बारे में कहने को कुछ भी न बचे। निरुक्त की प्रक्रिया देखने से निर्वचन का यह स्वरूप स्पष्ट और प्रमाणित है।

भाष्य

संस्कृत का जो प्राचीनतम वाङ्मय है उसके अर्थावबोध के लिए आचार्यों ने

मूल के विवेचन और विश्लेषण की जो विधि प्रवर्तित की, उसे 'भाष्य' की संज्ञा प्रदान की गयी। वैदिक संहिताओं और उपनिषदों के तो भाष्य हैं ही, परवर्ती सूत्रसाहित्य के भी भाष्य प्रसिद्ध हैं।

अमरकोश (३/५/३१) में 'भाष्य' शब्द नपुंसकलिङ्ग में पठित है। वहाँ रामाश्रमी टीका में भाष्यविषयक विवरण उल्लिखित है- 'भाष् व्यक्तायां वाचि करणे ण्यत्। भाष+ण्यत् = भाष्यम्। भाष्यते सूत्रार्थो येन तत्।' भाष्य का लक्षण इस प्रकार है-

सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र वाक्यैः सूत्रानुसारिभिः।
स्वमतानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः।।

अर्थात्, सूत्र में प्रतिपादित वस्तु को वाक्यों के माध्यम से जहाँ व्याख्यायित किया जाता है तथा उसमें साम्य और वैषम्य रखने वाले स्वमत का भी उपन्यास किया जाता है, उसे भाष्य के तत्त्ववेत्ता विद्वानों ने भाष्य माना है। भाष्य को परिभाषित करने वाला एक अन्य श्लोक इस प्रकार है-

संक्षिप्तस्याप्यतोऽस्यैव वाक्यस्यार्थगरीयसः।
सुविस्तारतरा वाचो भाष्यभूता भवन्तु मे।। (शिशुपालवध, २/२४)

इसका आशय है कि वाक्य के अर्थगौरव से संक्षिप्त तथा स्पष्टतः प्रकट न होने वाले विषय का जहाँ विस्तृत रूप से निर्वचन किया जाय, उसे भाष्य कहते हैं। यह भाष्य विषयक कथन महाकवि माघ का है। आचार्य राजशेखर ने काव्यमीमांसा में भाष्य के सम्बन्ध मे लिखा है-

"आक्षिप्य भाषणाद् भाष्यम्।" अर्थात्, किसी ग्रन्थ में प्रतिपादित वस्तु को स्पष्ट करने के लिए अन्य शास्त्रीय प्रमाणों का आक्षेप करके मत व्यक्त किया जाय तो उसे भाष्य कहते हैं।

सिद्धशब्दार्णव कोश के अनुसार, भाष्य को विषय का विस्तार करने वाला कहा गया है- "भाष्यं विस्तारकं मतम्।" वामन शिवराम आप्टे के अनुसार, सूत्रों की वृत्ति जिसमें शब्दशः व्याख्या और टिप्पण होता है, भाष्य कहा जाता है।

लोकमान्य बाल गङ्गाधर तिलक ने टीका से भाष्य को अलग करते हुए लिखा है[५]- "भाष्य और टीका का बहुत करके समानार्थी उपयोग होता है परन्तु टीका सामान्यतः मूलग्रन्थ के सरल अन्वय और उसके सुगम अर्थ करने को कहते हैं। भाष्यकार मात्र इतनी बातों से सन्तुष्ट नहीं होता। वह अपने भाष्य में ग्रन्थवर्णित

५. द्रष्टव्य - 'गीता रहस्य'- विषय प्रवेश।

वस्तु की समालोचना करता है, अपने मतानुसार उसका तात्पर्य बतलाता है और वह यह भी बतलाता है कि किस प्रकार के ग्रन्थ का अर्थ कैसे लगाना चाहिए?"

इस प्रकार, हम देखते हैं कि टीका में मुख्य रूप से ग्रन्थ की मूल-भावना को ज्यों का त्यों स्पष्ट करने का प्रयत्न होता है परन्तु भाष्य में भाष्यकार मूलग्रन्थ के भावों की सम्यग् विवेचना करते हुए उसके उचित अथवा अनुचित पक्षों का भी विश्लेषण करता है। वह मूल ग्रन्थ की भावना के अनुकूल या प्रतिकूल स्वमत को भी निष्पक्ष एवं निःसङ्कोच उपस्थापित करता है।

वैदिक संहिताओं पर आचार्य महीधर, स्कन्द स्वामी, उव्वट, सायण, दयानन्दादि के भाष्य प्रसिद्ध ही हैं। प्रस्थानत्रयी पर आद्य शङ्कराचार्य समेत अन्य अनेक आचार्यों के भाष्य उपलब्ध हैं। महर्षि पाणिनि के अष्टाध्यायी ग्रन्थ पर महर्षि पतञ्जलि का भाष्य महद्गौरवास्पद होने से महाभाष्य के नाम से विख्यात है।

व्याख्या

प्राचीन प्राच्य शोध प्रक्रिया में निरुक्त और भाष्य के पश्चात् 'व्याख्या' का स्थान अति महत्त्वपूर्ण है। श्रीमद्भागवत महापुराण में 'व्याख्या' शब्द प्रयुक्त है-

'न शिष्याननुबध्नीत ग्रन्थान्नैवाभ्यसेद् बहून्।
न व्याख्यामुपयुञ्जीत नारम्भानारभेत्क्वचित्।।' (७/१३/८)

हलायुधकोश में व्याख्या की परिभाषा दी गयी है-

'व्याख्या विवरणं स्मृतम्।'

'व्याख्या' शब्द की व्याकरणात्मक व्युत्पत्ति है-

वि+आङ्+ख्या+अङ्+टाप् = वि+आ+ख्या+अङ्+टाप्।

वामन शिवराम आप्टे के संस्कृत-हिन्दी कोश में इस शब्द का अर्थ दिया गया है- स्पष्टीकरण, विवृत्ति, टीका, भाष्य।

टीका और व्याख्या - ये दोनों ही शब्द एक-दूसरे के अर्थ में प्रायः बहुलतया प्रयुक्त होते हैं। इनमें कोई अन्तर भी सामान्यतः नहीं प्रतीत होता। व्युत्पत्ति की दृष्टि से भी दोनों समानार्थी हैं। दोनों के द्वारा ग्रन्थार्थ की स्पष्टता अभिप्रेत है। व्याख्या के लिए कहना उपयुक्त होगा-

विशेषेण आख्यायते स्पष्टीक्रियते ग्रन्थस्यार्थोऽनया इति व्याख्या।

नाना प्रकार से, खूब अच्छी तरह समझा कर, समस्तादि पदों को तोड़कर, उपयुक्त उदाहरण देकर, जिस विधि से ग्रन्थ का अर्थ सुबोधतया प्रस्तुत किया जाता है, उसे व्याख्या कहते हैं।

वृत्ति

कातन्त्र व्याकरणकार ने 'वृत्ति' के विषय में लिखा है- 'सूत्रस्यार्थविवरणं वृत्तिः।' आचार्य राजशेखर ने भी काव्यमीमांसा में प्रायः ऐसा ही कहा है- "सूत्राणां सकलसारविवरणं वृत्तिः।" सिद्धशब्दार्णव कोष में वृत्ति के सम्बन्ध में उल्लिखित है- 'ग्रन्थभेदाविमौ पृथक् वृत्तिनिबन्धावन्वर्थौ।'

अर्थात् वृत्ति और निबन्ध अन्वर्थ हैं और ये दोनों ही पृथक् ग्रन्थ भेद हैं।

'वृत्ति' शब्द 'वृत्' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय करने से व्युत्पन्न है। 'वृत' धातु भ्वादि, चुरादि और दिवादि गण में पठित और अनेकार्थक है। इसी प्रकार 'वृत्ति' शब्द के भी अनेक अर्थ हैं। प्रकृत प्रसङ्ग में 'वृत्ति' का अर्थ कोशकारों के अनुसार, भाष्य, टीका अथवा विवृति है। महाकवि माघ ने इसी अर्थ में वृत्ति शब्द का प्रयोग किया है- 'सद्वृत्तिः सन्निबन्धना' (शिशु., २/११२)। आशय है कि ग्रन्थ के अर्थ को जो समुचित रूप से प्रकट करे, वह 'वृत्ति' है।

टीका और वृत्ति में प्रवृत्तिगत भेद परिलक्षित होता है। वृत्ति में टीका की भाँति (प्रतिपद) अर्थ नहीं किया जाता अपितु सूत्र अथवा कारिकाओं के माध्यम से प्रतिपादित गम्भीर अर्थ वाली वस्तु को गद्य में इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है कि अध्येता को सूत्र या कारिका का आशय भलीभाँति स्पष्ट हो जाय। इसके लिए वृत्तिकार उन स्थलों पर उदाहरण या दृष्टान्त के रूप में उद्धरण देकर वृत्ति में अर्थ के साथ उसका यथोचित सन्निवेश इस प्रकार करता है कि सूत्रादि में परिमित शब्दों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त, परिभाषा अथवा लक्षण सुस्पष्ट हो जाँय।

सूत्रों और कारिकाओं (प्रायः व्याकरण या दर्शन या अन्य शास्त्र गत) पर वृत्ति लिखने की परम्परा अति प्राचीन काल से ही प्रवर्तित है। या तो मूल ग्रन्थ का कर्ता स्वयं (स्वोपज्ञ) वृत्ति लिखता है अथवा अन्य कोई आचार्य। आचार्य आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' की कारिकाओं पर स्वयं वृत्ति लिखी है। इसी प्रकार, आचार्य मम्मट, आचार्य विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ ने भी क्रमशः अपने काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण और रसगंगाधर पर स्वोपज्ञ वृत्तियाँ दी हैं। महर्षि पाणिनि कृत अष्टाध्यायी पर वामन-जयादित्य द्वारा प्रणीत काशिका वृत्ति प्रसिद्ध है। 'दशरूपक' पर धनिक की 'अवलोक' वृत्ति भी विख्यात है। सांख्यकारिका पर माठर वृत्ति उपलब्ध है। महर्षि पतञ्जलि के योगसूत्र पर भोजराज कृत 'राजमार्तण्ड वृत्ति' भी प्राप्त होती है। अन्य ग्रन्थों पर भी वृत्तियाँ मिलती हैं।

इन सभी वृत्तियों की विशेषता यह है कि इनके द्वारा ग्रन्थकार के प्रतिपाद्य

का अभिप्राय संक्षेपतः किन्तु स्पष्टतः प्रकाशित किया जाता है। इनमें उदाहरण के रूप में जो उद्धरण पद्यादि के रूप में दिये जाते हैं, वे विषयानुरूप अन्य ग्रन्थों से समाहरित होते हैं। रसगङ्गाधरकार एकावलीकार तथा प्रतापरुद्रयशोभूषणकार ने अपनी वृत्तियों में उदाहरण के पद्य स्वयं बनाकर प्रस्तुत किये हैं। अन्य स्वोपज्ञ वृत्तियों में भी यह प्रवृत्ति हो सकती है।

वार्तिक

'वार्तिक' प्राचीन शोध का यथार्थ प्रतिनिधित्व करता है। प्राचीन काल के प्राच्य शोध का जितना सटीक निदर्शन वार्तिकों के द्वारा मिलता है उतना अन्य किसी से नहीं। 'वार्तिक' को परिभाषित करने वाला एक श्लोक अति प्रसिद्ध है-

'उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते।
तं ग्रन्थं वार्तिकं प्राहुः वार्तिकज्ञविचक्षणाः।।'

अर्थात्, क्या कह दिया गया? क्या नहीं कहा गया? (कहने से क्या छूट गया?) और दो या उससे अधिक बार क्या कह दिया गया? इनके सम्बन्ध में जहाँ विचार होता है, उसे 'वार्तिक' कहते हैं।

सिद्धशब्दार्णव कोश में भी वार्तिक को प्रायः इसी तरह परिभाषित किया गया है-

'उदितोऽयमनुक्तोऽयं दुरुक्तो योऽर्थसञ्चय: (संशयः)।
तस्य ज्ञानं करोत्येतद् वार्तिकं विविदुर्बुधाः।।'

अर्थात्, यह स्पष्टतः (प्रकटतया) कहा गया, यह नहीं कहा गया और यह अर्थसंशय के कारण दो (या अधिक) बार कह दिया गया, इन सारी बातों का ज्ञान जिसके द्वारा होता है, उसे वार्तिक जानना चाहिए।

'वार्तिक' शब्द की व्याकरणात्मक व्युत्पत्ति है- वृत्ति+ढक्।

वामन शिवराम आप्टे ने संस्कृत-हिन्दी-कोश में 'वार्तिक' के सम्बन्ध में लिखा है- "एक व्याख्यापरक अतिरिक्त नियम, जो उक्त, अनुक्त अथवा अधूरी बात को व्याख्यायित करता है- उक्तानुक्तदुरुक्तार्थव्यक्तिचिन्ताकारि तु वार्तिकम्।"

'वार्तिक' शब्द, महर्षि पाणिनि प्रणीत व्याकरण सूत्रों पर कात्यायन (वररुचि) द्वारा निर्मित व्याख्यापरक नियम (सूत्रों) के लिए विशेष रूप से प्रयुक्त होता है। वार्तिक के उपर्युक्त लक्षण सम्भवतः कात्यायन कृत वार्तिक सूत्रों को देखकर बनाये गये प्रतीत होते हैं क्योंकि वे उनमें घटित होते हैं।

वार्तिक के स्वरूप को देखते हुए, टीका से इसका अन्तर स्पष्ट है।

महर्षि जैमिनि के (पूर्व) मीमांसा सूत्र की व्याख्या में लिखे गये कुमारिल भट्ट के तन्त्रवार्तिक और श्लोकवार्तिक प्रसिद्ध हैं। सुरेश्वराचार्य द्वारा लिखित सम्बन्ध वार्तिक भी प्रख्यात है।

पञ्जिका/पञ्चिका

टीका के अर्थ में कहीं-कहीं पञ्जिका या पञ्चिका शब्द का भी प्रयोग मिलता है। सिद्ध शब्दार्णव कोश में पञ्जिका शब्द के सम्बन्ध में कहा गया है- 'पञ्जिका विषमार्थभञ्जिका स्यात्।' अर्थात्, ग्रन्थ में आये हुए विषम (कठिन) अर्थ को तोड़ने वाली पञ्जिका है। आशय यह है कि दुरूह शब्दों में से अर्थ को (तोड़कर) प्रकाशित करने वाली व्याख्या को पञ्जिका कहते हैं। इसी आशय को अभिव्यक्त करती है आचार्य राजशेखर कृत परिभाषा- 'विषमपदभञ्जिका पञ्जिका।'

'पञ्जिका' शब्द के लिए उसी अर्थ में 'पञ्चिका' का भी प्रयोग होता है। हेमचन्द्राचार्य के अनुसार, 'पच्यन्ते व्यक्तीक्रियन्ते पदार्थाअनयेति पञ्चिका।' अर्थात्, जिसके द्वारा कठिन पदों के अर्थ सरलतया प्रकाशित किये जाँय, उसे 'पञ्चिका' कहते हैं।

टीकाकार वल्लभदेव ने अपनी मेघदूत टीका का नाम पञ्चिका (पञ्जिका) रखा है।

वामन शिवराम आप्टे 'पजि' का अर्थ पञ्जिका अवश्य करते हैं किन्तु उसे टीकादि अर्थ में नहीं रखते।

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि किसी ग्रन्थ के क्लिष्टार्थक शब्दों की विशेष रूप से सरल और ग्राह्य व्याख्या पञ्जिका अथवा पञ्चिका कही जाती है।

चूर्णि एवम् अवचूर्णि

टीका के अर्थ में इन दोनों ही शब्दों का प्रयोग हुआ है। 'चूर्ण' में 'इन्' प्रत्यय लगाने से 'चूर्णि' शब्द व्युत्पन्न होता है। इसमें 'अव' उपसर्ग लगाने पर 'अवचूर्णि' की प्राप्ति होगी।

'चूर्णि' शब्द का सामान्य अर्थ है- पीसा हुआ या चूरा किया हुआ। अमरकोश में 'चूर्णि' शब्द पठित है और वहाँ इसके हिन्दी अर्थ में इसे अष्टाध्यायी का पतञ्जलिकृत महाभाष्य कहा गया है। अमरकोश के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'चूर्णि' शब्द का प्रयोग टीका के अर्थ में प्राचीन काल से होता आ रहा है किन्तु इस अर्थ में चूर्णि का प्रयोग व्यापक और प्रसिद्ध न होकर सीमित और अप्रसिद्ध है।

वस्तुतः चूर्णि का अभिप्राय किसी ग्रन्थ के पदार्थ को ग्राह्य बनाने की प्रक्रिया

है। जैसे कोई भारी और कठोर वस्तु सरलतया ग्राह्य नहीं होती किन्तु उसके छोटे-छोटे टुकड़े कर देने पर वह ग्राह्य हो जाती है, वैसे ही ग्रन्थ में प्रयुक्त पदावली को विच्छिन्न करके उसे अर्थबोध की दृष्टि से सुगम बनाना चूर्णि का अभिप्राय होता है।

'अवचूर्णि' भी प्रायः 'चूर्णि' का समानार्थक ही है। इसमें लगा हुआ 'अव' उपसर्ग इसे 'चूर्णि' की अपेक्षा सरल और सहज सङ्केतित करता है। किसी ग्रन्थ की सरलतम टीका अवचूर्णि है। कनककीर्ति गणि कृत 'अवचूरि' अथवा 'अवचूर्णि' टीका (मेघदूत टीका) काशी से १८६७ ई. में प्रकाशित हुई थी।

निर्युक्ति

'निर्युक्ति' भी टीका के अर्थ में प्रचलित है। जैनों के धर्मग्रन्थों की व्याख्या के लिए 'निर्युक्ति' शब्द का प्रयोग होता है।

विवरण

'वृ' धातु से 'वि' उपसर्ग पूर्वक ल्युट् प्रत्यय करने पर 'विवरण' शब्द व्युत्पन्न होता है। कोशकारों ने इस शब्द के अनेक अर्थ दिये हैं- उद्घाटन, खोलना, अनावृत करना, विवृति, वृत्ति, टीका, व्याख्या और भाष्य।

वैजयन्ती कोश के अनुसार, 'भञ्जना स्याद् विवरणम्' अर्थात् तोड़-तोड़ कर (खोल-खोल कर) अर्थ करना 'विवरण' कहा जाता है। हलायुधकोश के अनुसार, व्याख्या को 'विवरण' कहा गया है- 'व्याख्या विवरणं स्मृतम्।'

'विवरण' शब्द की व्युत्पत्ति और कोशों में दिये गये इसके अर्थ का पर्यालोचन करने से यह अनुमान होता है कि 'विवरण' किसी ग्रन्थ का सीधा सादा अर्थ मात्र नहीं है अपितु उस ग्रन्थ के पद-पदार्थ का विस्तार से विवेचन करना अथवा, व्याख्यान करना 'विवरण' कहा जाता है। इसमें एक-एक पद लेकर उसका अर्थगत प्रयोग स्पष्ट किया जाता है।

विवृति

'विवृति' शब्द 'वि' उपसर्ग पूर्वक 'वृ' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय करने से व्युत्पन्न है। अर्थ की दृष्टि से यह शब्द भी 'विवरण' का समानार्थक ही है। वस्तुतः ये दोनों शब्द एक ही धातु और एक ही उपसर्ग (समान धातु 'वृ' और समान उपसर्ग 'वि') से बने हैं। अन्तर केवल प्रत्ययों का है (क्तिन् और ल्युट्)। विवृति और विवरण- दोनों का ही तात्पर्य है मूलग्रन्थ के रहस्य को अनावृत अथवा उद्घाटित करना।

टिप्पणी अथवा टिप्पण

कोशकारों ने 'टिप्पणी' शब्द का अर्थ भी टीका अथवा भाष्य दिया है।

कभी-कभी भाष्यों पर की गयी व्याख्या को टिप्पणी या टिप्पण कहते हैं। महाभाष्य पर लिखी गयी आचार्य कैयट की व्याख्या अथवा कैयट की लिखी गयी व्याख्या पर नागोजि भट्ट की टीका।

प्रायः यह देखा जाता है कि किसी विषय का प्रतिपादन करते समय किसी पद-पदार्थ अथवा प्रसङ्ग का विशेष स्पष्टीकरण आवश्यक हो जाता है। इन्हें अलग से समझाने का जो विशिष्ट उपक्रम होता है, उसे 'टिप्पणी' कहा जाता है। टिप्पणी उस पद-पदार्थादि को मुख्य प्रतिपादन से पृथक् करके स्पष्ट करती है। टिप्पणी में उस पद-पदार्थादि का विवरण देने के साथ ही उसकी समीक्षा भी प्रस्तुत हो जाती है। मुख्य विषय से हटकर किन्तु उस विषय से सम्बद्ध प्रसङ्ग विशेष का विवरण देना या समझना टिप्पणी/टिप्पण कहा जाता है। लोक में 'टीका-टिप्पणी' यह शब्दयुग्म खूब प्रचलित है। इसे टोंका-टोंकी के अथवा आलोचना के अर्थ में बाहुल्येन प्रयोग किया जाता है। ज्योतिर्विद किसी जातक के जन्मादि लग्नचक्र का जो विवरण प्रस्तुत करते हैं, उसे 'टिप्पण' कहा जाता है।

दीपिका

'दीप्यते प्रकाश्यते ग्रन्थार्थोऽनयेति दीपिका' इस व्युत्पत्ति के आधार पर 'दीपिका' शब्द टीका के अर्थ में भी प्रयुक्त है। कोशकारों ने इस शब्द का अर्थ 'सचित्र वर्णन करने वाला' अथवा 'स्पष्ट करने वाला' किया है। जिसके द्वारा वाक्य या ग्रन्थ के गूढ़ अर्थ को प्रकाशित किया जाय, उसे 'दीपिका' कहते हैं। अन्धकार में पड़ी हुई वस्तु को प्रकाशित करने मे जैसे दीपक या दीपिका (दीआ) का उपयोग है वैसे ही अभीष्ट ग्रन्थ के रहस्य को प्रकाशित (स्पष्ट) करने के लिए 'दीपिका' का।

मेघदूत पर जगद्धर द्वारा की गयी टीका का नाम 'रसदीपिका' (अथवा, रसदीपनी) है। यह टीका दरभङ्गा संस्कृत विश्वविद्यालय से प्रकाशित है। इसके अतिरिक्त, मेघदूत पर ही कमलाकर कृत 'शृङ्गाररसदीपिका' गदाधर कृत 'रसदीपिका', भागीरथ मिश्र कृत 'तत्त्व दीपिका', सनातन गोस्वामी कृत 'तात्पर्य दीपिका' नामक टीकायें ज्ञात हैं। कुछ टीकाकारों ने 'दीप', दीपक और प्रदीप शब्द का भी प्रयोग इसी अर्थ में किया है।

सांख्यकारिका पर 'युक्ति दीपिका' टीका तथा महाभारत पर 'ज्ञान दीपिका' टीका प्रसिद्ध है। वर्तमान में 'दीपिका' का प्रयोग किसी भी ग्रन्थ की सरलीकृत व्याख्या के लिए किया जा रहा है। इस शब्द का अर्थापकर्ष भी हुआ है और इसे हल्के अर्थ में 'कुञ्जिका', 'गाइड' या 'मेड इजी' के रूप में भी देखा जा सकता है।

तिलक

टीका के अर्थ में 'तिलक' शब्द का भी प्रयोग होता है। माथे पर लगने वाली टीका को तिलक कहते ही हैं। कोशों में यद्यपि इस शब्द का उल्लेख टीका के अर्थ में नहीं हुआ है तथापि कुछ टीका ग्रन्थों का नाम 'तिलक' अवश्य प्राप्त होता है। यथा- 'रामायण तिलक'।

जैसे मस्तक पर लगा हुआ तिलक (विशिष्ट चिह्न) उस व्यक्ति के इष्टदेवता अथवा, सम्प्रदाय या पूजा पद्धति को सङ्केतित करता है, वैसे ही, जिस टीका के माध्यम से ग्रन्थ के स्वरूप का प्रकाशन हो, उसकी गुणादि विशेषताओं का उद्घाटन हो, उसे हम 'तिलक' कह सकते हैं।

फक्किका

'फक्क्' धातु भ्वादि गण में पठित है और परस्मैपदी है जिसका अर्थ है- धीरे-धीरे चलना, सरकना या फुर्ती से जाना। वस्तुतः यह एक अनुकरणमूलक ध्वन्यात्मक शब्द है। जब किसी वस्तु को तेज धार वाले उपकरण से प्रहारपूर्वक काटा जाता है तो 'फक्क्' ध्वनि निकलती है। जिसके आधार पर इसका अर्थ- विभक्त करना या टुकड़ों में काटना-करना समीचीन होगा।

'फक्किका' शब्द की व्याकरणात्मक व्युत्पत्ति है- 'फक्क्+ण्वुल्+टाप्, ण्वुलोः इत्वम्।' कोशकारों ने 'फक्किका' शब्द का अर्थ किया है- एक अवस्था, उक्ति या प्रतिज्ञा जिसे बनाये रखना है; सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत पूर्व पक्ष आदि। वैजयन्ती कोश में 'फक्किका' शब्द पठित है- 'एकग्रन्थस्तु फक्किका' किन्तु इतना कहने मात्र से 'फक्किका' का अर्थ स्पष्ट नहीं होता। मॉनियर विलियम ने शायद इसी अर्थ को अपने 'संस्कृत-अंग्रेजी-कोश' में इस प्रकार व्यक्त किया है- 'A previous statement or Thesis to be maintained. Logical exposition.'

फक्किका में किसी सिद्धान्त या मान्यता को प्रमाणों से पुष्ट किया जाता है। नैषधीयचरित महाकाव्य में श्रीहर्ष ने 'फक्किका' पद का प्रयोग किया है- 'फणिभाषितभाष्यफक्किका विषमा कुण्डलनामवापिता'' (२/९५)। यहाँ टीकाकारों ने 'फक्किका' को ज्यों का त्यों रखा है, अलग से उसका कोई अर्थ नहीं किया है।[६]

६. 'फणिभाषिता शेषोक्ता भाष्यस्य फक्किका ग्रन्थस्तद्वद् विषमा दुर्ग्रहा शेषव्यतिरिक्तेन ज्ञातुमशक्या। यथा भाष्यफक्किका वररुचिना कुण्डलितेति प्रसिद्धिः।'

(नारायण, प्रकाश टीका)

'फणिभाषितभाष्यफक्किका पतञ्जलिप्रणीतमहाभाष्यस्थः कुण्डलिग्रन्थः' - (मल्लिनाथ)। ऐसा ही कुछ दीपिका टीका में भी।

टीकाकारों की व्याख्या से प्रतीत होता है कि महर्षि पतञ्जलि के महाभाष्य पर की गयी फक्किका, वररुचि द्वारा (वार्तिकों के माध्यम से) लपेट दी गयी अर्थात् तिरोहित कर दी गयी। अथवा, 'भाष्यमेव फक्किका' टीका का अर्थ अवश्य देती है। महर्षि पाणिनि के व्याकरण सूत्रों पर महाभाष्य और उसमें आये हुए व्याकरण के दार्शनिक तत्त्वों की व्याख्या अथवा मीमांसा रही फक्किका और उसे कुण्डलित करने वाले वररुचि (कात्यायन) के वार्तिक। ये सब टीका के माध्यम से शोध पद्धति के प्रमाण हैं।

पद्धति

'पद्धति' का मूल अर्थ है पैरों से बने चिह्नों की पङ्क्ति जिसे हम बोलचाल की भाषा में 'पगडण्डी' कह सकते हैं। जमीन पर लोगों के लगातार चलने से एक पगडण्डी (मार्ग, रास्ता) बन जाती है।

'पद्धति' का प्रयोग टीका के अर्थ में हुआ है। आचार्य राजशेखर ने लिखा है- 'सूत्रवृत्तिविवेचनं पद्धतिः' अर्थात्, सूत्र पर लिखी गयी वृत्ति का विवेचन (करना) पद्धति है। जिस प्रकार, भूमि पर प्रथम बार चल कर किसी ने अपने पदचिह्न छोड़ दिये और फिर बाद में उसका अनुसरण कर अन्य लोग भी उस पर चल पड़े तो वह एक पद्धति (मार्ग) बन गया, इसी प्रकार किसी दुर्बोध सूत्र या ग्रन्थ पर किसी ने वृत्ति (व्याख्या) लिख दी तो उसके आश्रय से अन्य लोग भी सरल टीका कर सकते हैं। इस प्रकार, पद्धति का अर्थ हुआ वृत्ति अर्थात् टीका की टीका अथवा, 'अनु टीका'।

समीक्षा

समीक्षा, किसी सिद्धान्त, मत या ग्रन्थ की आलोचना के अर्थ में प्रसिद्ध शब्द है। आचार्य राजशेखर ने 'समीक्षा' को परिभाषित करते हुए कहा है-

"अन्तर्भाष्यं समीक्षा अवान्तरार्थविच्छेदस्य सा।" अर्थात्, किसी ग्रन्थ के भाष्य की गहराई में जाकर किसी तथ्य का उन्मीलन तथा मत-मतान्तर का प्रतिपादन 'समीक्षा' कही जाती है। राजशेखर के अनुसार, प्रस्तुत विषय से अवान्तर = भिन्न विषय को पृथक् करना भी समीक्षा है।

'समीक्षा' शब्द की व्याकरणात्मक व्युत्पत्ति है-

सम्+ईक्ष्+अङ्+टाप्।

कोशकारों ने समीक्षा शब्द के अनेक अर्थ किये हैं- अनुसन्धान, खोज, विचार, सम्यग् निरीक्षण, समालोचना, वुद्धि, समझ, नैसर्गिक सत्य, अनिवार्य सिद्धान्त और दर्शनशास्त्र की मीमांसा पद्धति।

समीक्षा के इन सारे अर्थों का पर्यालोचन करने से समीक्षा के स्वरूप का ज्ञान होता है। किसी भी ग्रन्थ पर हर सम्भव दृष्टि से विमर्श करना समीक्षा कहलाता है।

टीका और समीक्षा में पर्याप्त अन्तर है। टीका के अन्तर्गत किसी ग्रन्थ में प्रयुक्त शब्दों का प्रसङ्गानुसार अर्थ करना, शब्दों की व्याकरणात्मक व्युत्पत्तियाँ देना, उनका तात्पर्य समझाना अथवा भाव निर्देश करना तथा ग्रन्थ के विषयानुसार उसमें सन्निविष्ट तत्त्वों को पृथक् करके उनका समुचित निर्देश करना होता है। समीक्षा में एक निश्चित सिद्धान्त के निकष पर ग्रन्थ की वस्तु का विमर्श कर एक निष्कर्ष का प्रतिपादन करना होता है। समीक्षा के लिए आलोचना (या समालोचना) शब्द भी प्रचलित है।

समालोचना का अर्थ है- विवेचक बुद्धि से निष्पक्षतया प्रतिपादित वस्तु का मूल्याङ्कन करना अर्थात् केवल गुणों या केवल दोषों पर दृष्टि न रखकर तटस्थ भाव से किसी ग्रन्थ को सिद्धान्तविशेष की दृष्टि से परखना। समालोचना करने के लिए 'सहृदय' होना आवश्यक है। कोई समालोचक ग्रन्थ या विषय की गहराई में उतरता है, उसके सत्-असत् पक्षों का उद्घाटन करता है, विवेक पूर्वक विमर्श करके विषय को सम्यक् प्रकाशित करता है और अन्त में अपना अभिमत भी प्रकट करता है। 'शब्द विमर्श' नामक अपने ग्रन्थ में पूज्य गुरुवर्य प्रो. अमरनाथ पाण्डेय ने लिखा ही है-

'सम्यग् विषयमालोच्य रहस्यं येन गद्यते।
आलोचक इति ख्यातः स सदा विदुषां मतः।।' (पृ. ३१)

आधुनिक काल में किसी ग्रन्थ या सिद्धान्त की वस्तुनिष्ठ और व्यक्तिनिष्ठ समीक्षा पर्याप्त रूप से प्रचलित है। विश्व की प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण भाषाओं की श्रेष्ठ कृतियों की समीक्षा निरन्तर हो रही है। समीक्षा का वर्तमान स्वरूप प्राचीन संस्कृत वाङ्मय में तो उपलब्ध नहीं होता किन्तु भाष्य के सन्दर्भ में भाष्यकारों ने इस पद्धति का उपयोग किया है। वे क्लिष्ट एवं विवादास्पद सन्दर्भों को भाष्य के अन्तर्गत अथवा पृथग् रूप से समीक्षित करते हैं। कभी-कभी भाष्यकार अपने भाष्य की प्रस्तावना अथवा भूमिका में ग्रन्थ की वस्तुनिष्ठ (विषयगत) समीक्षा प्रस्तुत करते हैं। आचार्य सायण द्वारा विभिन्न वैदिक संहिताओं के भाष्यों की भूमिका में उन संहिताओं की वस्तुनिष्ठ समीक्षा भी सन्निहित हे। आज समीक्षा का स्तर अत्यन्त व्यापक और उन्नत हो चुका है।

टीका की आवश्यकता

शब्द से अर्थ अभिन्न है। किसी भी माध्यम से व्यक्त 'शब्द' सदैव सार्थक होता है। (यहाँ 'शब्द' का प्रयोग 'आवाज' या ध्वनि के लिए नहीं है)। प्राचीन काल में आचार्य (महर्षि, गुरु आदि) अपने शिष्यों को श्रुति के मूलमात्र का उपदेश करते रहे होंगे और शिष्य उसे यथावत् ग्रहण करते रहे होंगे। उन्हें उपदिष्ट श्रुति का अर्थ स्वाभाविक रूप से स्पष्ट होता रहा होगा। कालान्तर में, जब शिष्यों की मेधा और स्मृति (स्मरणशक्ति या धारणाशक्ति) का ह्रास होने लगा और उपदेश में प्रयुक्त पदावली दुर्बोध होने लगी तो आचार्यों ने उसे उदाहरण, दृष्टान्त, वृत्तान्त अथवा आख्यानोपख्यान आदि की अवान्तर रीति से स्पष्ट करना प्रारम्भ किया।

इस प्रकार, जब मूल प्रतिपाद्य दुर्बोध होने लगा तब उसके स्पष्टीकरण की आवश्यकता अनुभूत हुई। इसलिए विषय वस्तु के सम्यग् बोध के लिए ग्रन्थों की टीका/व्याख्या का आरम्भ हुआ। निश्चय ही इसका आरम्भ निरुक्त और भाष्य से हुआ। एक ही ग्रन्थ की अनेक टीकाएँ हुई और कुछ टीकाओं की अनुटीकायें भी हुईं। कुछ ग्रन्थों की दुरूहता के कारण अनेक टीकाएँ होने पर भी उनकी टीका की आवश्यकता आज भी बनी हुई है। श्रीमद्भगवद्गीता, काव्यप्रकाशादि ऐसे ही ग्रन्थ हैं। काव्य प्रकाश के सम्बन्ध में तो प्रसिद्ध है-

'काव्यप्रकाशस्य कृता टीका गृहे-गृहे तथाप्येष तथैव दुर्गमः।' वैदिक वाङ्मय में ब्राह्मण ग्रन्थों को तत्तत्संहिताओं की व्याख्या के रूप में देखा जाता है।

टीका के प्रमुख भेद

प्रथम दृष्ट्या टीका के दो मुख्य भेद हैं- १. दण्डान्वय टीका और २. खण्डान्वय टीका।

स्पष्ट रूप से ये दोनों भेद शैली (टीका पद्धति) पर आधारित हैं। ये दोनों ही टीकाएँ पद्यात्मक ग्रन्थों (काव्यों) पर की जाती हैं।

१. दण्डान्वय टीका - इस टीका में पद्य (श्लोक) का अन्वय करके तदनुसार पदों का अर्थ किया जाता है। इस प्रकार, सभी शब्दों का अर्थ करके पूरे पद्य की व्याख्या कर दी जाती है। पदों में विभक्ति निर्देश, समास तथा शब्दों की व्याकरणात्मक व्युत्पत्तियों का विशेष ध्यान रखा जाता है। कभी-कभी टीकाकार अन्त में उस पद्य का भाव, तद्गत रस, छन्द, अलङ्कारादि विशिष्ट तत्त्वों का निर्देश भी करता है।

चूँकि इस प्रकार की टीका में शब्दों की एक वाक्य रूप योजना करके

उनका सीधे-सीधे अर्थ किया जाता है, अतः इसकी 'दण्डान्वय' संज्ञा यथार्थ है। प्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ सूरि ने अपनी अधिकांश टीकाएँ दण्डान्वय पद्धति में ही की हैं। उन्होंने अपनी टीकाओं के आमुख में इसका स्पष्टतः उल्लेख भी किया है-

'इहान्वयमुखेनैव सर्वं व्याख्यायते मया।
नामूलं लिख्यते किञ्चिन्नानपेक्षितमुच्यते।।'

मल्लिनाथसूरि के उपर्युक्त प्रतिज्ञा वाक्य में स्पष्ट रूप से दण्डान्वय टीका की विशेषता परिलक्षित होती है। इस टीका में पद-विग्रहपूर्वक अर्थ करके रचनाकार महाकवि के आशय को स्पष्ट किया जाता है। टीकाकार मूलवस्तु से हटकर, विषयान्तरपूर्वक कुछ नहीं लिखता। जो अपेक्षित होता है, वही कहता है, अनपेक्षित कुछ भी नहीं कहता। इस टीका पद्धति में विचलन की सम्भावना न्यूनतम होती है। दण्डान्वय पद्धति सरलतम टीका पद्धति है।

२. खण्डान्वय टीका - इस प्रकार की टीका में पद्यों का अर्थ बिना अन्वय किये ही किया जाता है। पद्य में प्रतिपादित वस्तु को ग्रहण कर 'आक्षेप-प्रश्न-परिपाटी' द्वारा पद्य को छोटे-छोटे खण्डों में समायोजित करके उसकी व्याख्या की जाती है। खण्डान्वय टीका में पद्य के शब्दों की व्याख्या करने में अन्वय की क्रमबद्धता नहीं रहती किन्तु कई बार घुमा-फिरा कर कहने से अर्थ स्पष्ट हो जाता है। संस्कृत काव्यों की अनेक टीकाएँ खण्डान्वय पद्धति में लिखी गयी हैं। अभिज्ञानशाकुन्तल पर की गयी राघवभट्ट की टीका तथा नैषधीयचरित पर की गयी नारायण भट्ट की 'प्रकाश' टीका खण्डान्वय पद्धति में हैं।

दण्डान्वय टीका संक्षिप्त और ठोस होती है। पदों का अलग-अलग किन्तु क्रमबद्ध अर्थ होने से पद्य का मूल अर्थ सरलतया स्पष्ट हो जाता है। खण्डान्वय टीका में व्याकरण की दृष्टि से पद के स्वरूप के आधार पर अर्थबोध कराने तथा आक्षेप-प्रश्न-परिपाटी के आश्रय से विषय को स्पष्ट करने के प्रयत्न के फलस्वरूप टीका विस्तृत हो जाती है। खण्डान्वय पद्धति में दण्डान्वय की अपेक्षा अर्थ की स्पष्टतया (प्रतीति) किञ्चित् अधिक होती है।

टीका के अवान्तर भेद

पद्धति के आधार पर किये गये उपर्युक्त दो भेदों से अलग, टीका के अन्य भी कई भेद हैं, जो अधोलिखित हैं-

१. शृङ्खला टीका - एक ग्रन्थ पर की गयी किसी टीका पर गयी अन्य टीका और फिर इस दूसरी टीका की तीसरी टीका। इस प्रकार टीका की टीकानुटीकाएँ,

श्रृङ्खला टीका कही जाती हैं। महर्षि पतञ्जलिकृत योगसूत्र पर व्यास द्वारा किया गया भाष्य और उस भाष्य पर आद्यशङ्कराचार्य द्वारा की गयी तत्त्ववैशारदी टीका, श्रृङ्खला टीका के अन्तर्गत आती है।

सूत्रात्मक ग्रन्थों पर ग्रन्थकार स्वोपज्ञ वृत्ति लिखता है और फिर कोई टीकाकार उस मूलग्रन्थ के साथ ही वृत्ति पर भी टीका लिखता है। उदाहरण के लिए ध्वन्यालोक, काव्य प्रकाश की वृत्ति सहित टीका।

२. शास्त्रीय टीका - इसका अपर नाम 'प्रस्थापन टीका' भी है। मूलग्रन्थ के विवादग्रस्त, अस्पष्ट और क्लिष्ट विषय का शास्त्रीय विवेचन करना तथा कोई एक सिद्धान्त स्थिर करना शास्त्रीय टीका का वैशिष्ट्य है। आचार्य अभिनवगुप्त की सारी टीकाएँ इसी कोटि की हैं। इसमें टीकाकार प्रतिपाद्य विषय के विविध शास्त्रीय पक्ष का ज्ञाता और कुशल विवेचक होता है। अभिनवगुप्त तो परमाचार्य थे। इसीलिए उनकी टीकाओं (अभिनव भारती, लोचन प्रभृति) में शास्त्रीय विशेषताएँ प्राप्त हैं।

३. तुलनात्मक टीका - ग्रन्थ पर व्याख्या करते हुए, उस ग्रन्थ पर की गयी अन्य व्याख्याओं से उद्धरण लेकर की गयी टीका, तुलनात्मक टीका कही जाती है। लोकमान्य बालगङ्गाधर तिलक द्वारा की गयी टीका 'गीता रहस्य' और वामन झलकीकर द्वारा काव्यप्रकाश पर की गयी वामनी टीका इसी कोटि की है। प्रायः दार्शनिक ग्रन्थों की टीकाएँ शास्त्रीय और तुलनात्मक- दोनों हुआ करती हैं।

४. व्यवस्थापिका टीका - इस प्रकार की टीका में ऋषियों और आचार्यों के मत-मतान्तरों को ध्यान में रखकर, अध्येताओं की सुविधा के लिये व्याख्या के अन्तर्गत उनके उद्धरणों तथा शास्त्र विहित सिद्धान्त कर्मों की व्यवस्था की जाती है। धर्मशास्त्र के निबन्धों की टीकाएँ इसी कोटि की होती हैं।

५. अनुगामिनी टीका - टीकाकार जब अपनी विचारधारा सहमत न होने वाले मत का मूलग्रन्थ के अनुसार विवेचन करता है और उसका समर्थन करता है तो उस टीका को अनुगामिनी टीका कहते हैं। सांख्यकारिका पर आचार्य वाचस्पति मिश्र की 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' इसी प्रकार की टीका है। आचार्य मिश्र मूलतः वेदान्त मतानुयायी थे किन्तु तत्त्वकौमुदी में वे पुरुष आदि के निरूपण प्रसङ्ग में सांख्यशास्त्र के सिद्धान्त का मण्डन करते हैं न कि खण्डन।

६. स्वतंत्रा टीका - स्वतंत्रा टीका प्रायः भाष्य पद्धति का अनुसरण करती है। इस प्रकार की टीका में टीकाकार मूलग्रन्थ को आधार बनाकर स्वतंत्र रूप से अपने सिद्धान्तों की चर्चा करता है। उदाहरण के लिए श्रीमद्भगवद्गीता पर किये

गये भाष्यों को लिया जा सकता है। गीता पर आद्यशङ्कराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य, रामानन्दाचार्य आदि ने अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का पोषण उसकी टीका के माध्यम से किया है। इसी प्रकार महर्षि अरविन्द, महात्मा गांधी, आचार्य विनोबा भावे, लोकमान्य तिलक, स्वामी रामसुख दास आदि अनेक महानुभावों ने अपनी-अपनी दृष्टि से व्याख्या की है। जब कोई व्यक्ति एक विशेष दृष्टिकोण या उद्देश्य लेकर किसी ग्रन्थ की टीका में प्रवृत्त होता है तो वह स्वतंत्र रूप से उस टीका के माध्यम से अपने उस दृष्टिकोण को प्रतिपादित और स्थापित करता है। इसी कारण ऐसी टीका को स्वतंत्रा टीका कहते हैं।

७. व्यापिका टीका - इस प्रकार की टीका में अनुकूल और प्रतिकूल दोनों प्रकार की टीकाओं का ग्रहण होता है। जब किसी सिद्धान्त या मत का खण्डन करने के लिए कोई आचार्य ग्रन्थ विशेष की टीका करता है, उसे प्रतिकूल टीका कहते हैं और जब उस ग्रन्थ विशेष की वस्तु का अनुमोदन करने के लिए टीका की जाती है तो वह अनुकूल टीका होती है। आचार्य सायण द्वारा किये गये वेदभाष्य अनुकूल टीका के अन्तर्गत हैं तथा बौद्धाचार्यों और जैनमुनियों द्वारा वैदिक ग्रन्थों पर की गयी टीकाएँ प्रतिकूल टीका की कोटि में हैं। इनको समग्र रूप से व्यापिका टीका कहते हैं।

८. रसग्रहणात्मिका टीका - प्रायः साहित्यिक ग्रन्थों पर की जाने वाली टीकाएँ इस कोटि में आती हैं। इसमें काव्य के रहस्यमय, मुग्ध और अस्पष्ट अर्थों को स्पष्ट किया जाता है। काव्य सौन्दर्य को मुखरित करना, रसिक जनों को काव्य में अभिव्यक्त रस तथा भावों की अनुभूति कराना, ध्वनि गुणालङ्कारादि को स्पष्ट करना, इस प्रकार की टीका की विशेषता है। ऐसी टीकाएँ करने वाले सहृदय कोटि के होते हैं। वल्लभ देव, मल्लिनाथ आदि की टीकाएँ इन विशेषताओं से युक्त हैं।

टीका के आवश्यक अङ्ग - टीका के छः आवश्यक अङ्ग इस प्रकार गिनाये गये हैं-

'पदच्छेदः पदार्थश्च विग्रहो वाक्ययोजना।
आक्षेपश्च समाधानं व्याख्यानं षड्विधं विदुः।।'

अर्थात्, पदच्छेद करना (सन्धियुत पदों को तोड़ना), पदों के अर्थ बतलाना, समास-विग्रह करना, पदों का अन्वय करके वाक्य की योजना करना, आक्षेप करना (शङ्का या जिज्ञासा करना) और तब उसका समाधान प्रस्तुत करना-ये सब टीका के आवश्यक अङ्ग हैं। कुछ विद्वान् आक्षेप और समाधान को एक साथ जोड़ कर पाँच

ही अङ्ग मानते हैं। किन्तु यह उचित नहीं है। आक्षेप और समाधान को यदि एक ही मान लिया जायेगा तो व्याख्या या टीका के अङ्गों का षड्विधत्व कैसे उपपन्न होगा? अतः अङ्ग छः हैं, पाँच नहीं।

उत्कृष्ट टीका के अपेक्षित गुण

टीका उत्कृष्ट वही होती है जिसके माध्यम से अध्येता अथवा जिज्ञासु पाठक ग्रन्थ के विषय को ठीक-ठीक समझते हुए ग्रन्थकार की भावभूमि तक पहुँच जाय। जो इस प्रकार की टीका अथवा व्याख्या करता है, वह टीकाकार यथार्थतः सहृदय है। वह ग्रन्थ की वस्तु और अध्येता के साथ न्याय करता है। 'सहृदय, कवि या रचनाकार के व्यापार (कर्म) से पूर्णतः परिचित होता है। वह ग्रन्थ के पूरे सन्दर्भ को देखकर अपनी समीक्षा प्रस्तुत करता है।...सहृदय तो वह है जो काव्य के सुन्दर प्रसङ्गों का उपस्थापन करता है। कवि की विशिष्ट रीति का प्रतिपादन करता है। उसकी समीक्षा से कवि के काव्य का रहस्य प्रकट होता है और तब सामान्य जन भी काव्य का परिशीलन करने में समर्थ होता है।'[७]

'काव्यानुशीलन करते-करते जिनका मन स्वच्छ हो जाता है और जिनमें वर्णनीय विषय में तन्मय हो जाने की योग्यता आ जाती है, वह सहृदय कहा जाता है।[८] सहृदय ही ऐसे कवियों के भावों, विचारों, कल्पनाओं तथा अनुभूतियों तक पहुँचता है। उसका हृदय कवि का हृदय (हो जाता) है।'[९]

इस प्रकार, एक अच्छी टीका पाठक को कवि की भावभूमि तक पहुँचा देती है। ऐसा टीकाकार की हृदय संवादिनी प्रतिभा के कारण होता है। इसके विपरीत जो टीकाकार सहृदय नहीं होते वे मात्र पदों का अर्थ करके या तो विलग हो जाते हैं या अपने पाण्डित्य प्रदर्शन के लोभ में ग्रन्थ में प्रतिपादित विषय को सुलझाने के बजाय उलझाकर और भी दुर्बोध बना देते हैं। ऐसे ही टीकाकारों की टीका- 'मघवा मूल विडौजा टीका' बनकर रह जाती है और पाठक उसकी उपेक्षा कर देते हैं। मल्लिनाथ ने ऐसी ही टीका के लिए 'दुर्व्याख्या विषमूर्च्छिता' द्वारा सङ्केत किया है। ऐसी टीकाओं का न तो आदर होता है और वे निष्प्रयोज्य होकर लोकप्रिय भी नहीं हो पातीं। कुछ ऐसे भी टीकाकार होते हैं जो केवल टीकाकारों की पङ्क्ति में गणना

७. डॉ. अमरनाथ पाण्डेय : 'शब्द विमर्श', भूमिका, पृ. १४-१५.

८. येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद् विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते स्वहृदयसंवादभाजः सहृदयाः। - आचार्य अभिनवगुप्त : ध्वन्यालोकलोचन, १/१.

९. डॉ. अमरनाथ पाण्डेय : शब्दविमर्श, पृ. ७३.

कराने के लोभ में ही निष्फल टीकाएँ किया करते हैं। ऐसे टीकाकारों की 'चुटकी' लेते हुए भोजराज ने उनका सही चित्रण किया है-

> 'दुर्बोधं यदतीव तद्विजहति स्पष्टार्थमित्युक्तिभिः
> स्पष्टार्थेष्वतिविस्तृतिं विदधति व्यर्थैः समासादिकैः।
> अस्थानेऽनुपयोगिभिश्च बहुभिर्जल्पैर्भ्रमं तन्वते
> श्रोतृणामिति वस्तुविप्लवकृतः सर्वेऽपि टीकाकृतः।।'[१०]

(जो अत्यन्त दुर्बोध = क्लिष्ट है उसे 'अर्थ स्पष्ट है' इत्यादि कहकर छोड़ देते हैं। जहाँ अर्थ एकदम स्पष्ट है वहाँ व्यर्थ के समासादि की विग्रह-योजना द्वारा अत्यधिक विस्तार करते हैं। बिना उचित प्रसङ्ग के अनेक अनुपयोगी मनगढ़न्त बातों से भ्रम = सन्देह पैदा करते हैं। इस प्रकार, मूलवस्तु को श्रोताओं = पाठकों के समक्ष बिगाड़ कर रखने वाले प्रायः सभी टीकाकार हैं।।)।

इसके विपरीत, एक आदर्श टीका में वे सभी गुण होने चाहिए जो काव्य या ग्रन्थ के विविध पक्षों को उसका अर्थ स्पष्ट करते हुए उद्घाटित कर सकें। टीका की भाषा अपने आप में सरल और बोधगम्य होनी चाहिए। आदर्श टीका में, 'व्याकरण प्रक्रिया द्वारा शब्दसिद्धि, कोश, लक्षण सहित अलङ्कार तथा छन्दोनिर्देश, वर्णित अर्थ के साथ अलङ्कार का समन्वय, प्रमाण, ध्वन्यर्थ, विषय, निर्देशात्मक, संशयात्मक तथा प्रश्नात्मक प्रयोजन, सन्दर्भनिर्देश, वर्णित अर्थ का सार, प्रश्न करके उसका उत्तर, शङ्का-समाधान, ग्रन्थान्तर का समान वर्णन, श्लोक तथा उसके अंश का वैकल्पिक अर्थ, कथानक, दृष्टान्त, परमतप्रदर्शन, निरसन तथा उसका अभिप्राय, पारिभाषिक पद का लक्षण, कवि प्रसिद्धि, रस, नायक-नायिकादि लक्षण आदि गुण होना आवश्यक है।'

अतएव, एक उत्कृष्ट टीका में उन सभी गुणों की उपस्थिति आवश्यक है जिसके द्वारा वह अपने अभीष्ट प्रयोजन की सिद्धि कर सके। टीका का अभीष्ट प्रयोजन है- ग्रन्थ के दुर्बोध स्थलों को स्पष्ट करते हुए उसके रहस्यों को समग्रतया समुद्घाटित करना।

शोध और समीक्षा

शोध और समीक्षा- दोनों के विषय में पूर्व पृष्ठों में पर्याप्त विचार-विमर्श किया जा चुका है। एक प्रश्न प्रायः होता है कि क्या 'समीक्षा' शोध है? इसका उत्तर है कि सामान्य (परिचयात्मक) समीक्षा को शोध की कोटि में नहीं रखा जाना

१०. पातञ्जल योगसूत्र - भोजराज कृत राजमार्तण्डवृत्ति, प्रस्तावना।

चाहिए किन्तु यदि ग्रन्थ की गहराई में जाकर उसकी वस्तुनिष्ठ तात्त्विक समीक्षा की गयी हो तो उसे शोध की मान्यता मिलनी चाहिए। आजकल की नूतन शोध पद्धति में समीक्षात्मक (या आलोचनात्मक) अध्ययन जिसे अंग्रेजी में 'Critical Study' कहते हैं, शोध की कोटि में गृहीत है। अपि च, शोध को समीक्षा कहना उचित न होगा किन्तु उपर्युक्त रीति की समीक्षा शोध कही जायगी। शोध और समीक्षा के अन्तर पर विचार करते हुए हमें अधोलिखित तथ्यों पर अवश्य ही ध्यान देना चाहिए-

(क) शोध में तटस्थता अनिवार्य है। शोधार्थी, शोध विषय के प्रति तटस्थ भाव रखता हुआ शोध के उद्देश्य की पूर्ति करता है। उसकी प्रारम्भिक दृष्टि न तो सकारात्मक होती है और न ही नकारात्मक। वह दोनों पक्षों पर दृष्टि डालता हुआ सम्भावनाओं की खोज करता है तथा अपनी परिकल्पना को सिद्धान्त या निष्कर्ष की ओर ले चलता है।

समीक्षा में तटस्थता अनिवार्य नहीं होती अपितु वह आत्मपरक होती है। समीक्षक अपने दृष्टिकोण से किसी लेख, काव्य अथवा ग्रंथ की समीक्षा करता है और उस समीक्षा को अपने सैद्धान्तिक सांचे में ढाल कर प्रस्तुत करता है। किसी एक ही ग्रन्थ पर समीक्षकों की अलग-अलग समीक्षाएँ हो सकती हैं। **यथा-** श्रीमद्भगवद्गीता में मान्य रूप से ज्ञान, कर्म और भक्ति- इन तीनों का समन्वय प्रतिपादित है। वेदान्त दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों के आचार्यों ने अपने-अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के आलोक में गीतोक्त वस्तु का विश्लेषण एवं मूल्याङ्कन किया है। इस तरह उन्होंने गीता को, अद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि का प्रतिपादक ग्रन्थ कहा है। श्री रामानुजाचार्य और श्रीरामानन्दाचार्य ने उसमें विशेष रूप से भक्ति का सिद्धान्त निकाला है। आधुनिक, लोकमान्य तिलक, अरविन्द, महात्मा गांधी, विनोबा भावे आदि समीक्षकों ने अपनी दृष्टि से गीता की समीक्षा की है। इस तरह हम देखते हैं कि श्रीमद्भगवद्गीता के तत्त्वों का उन्मीलन करने में कोई भी समीक्षक तटस्थ नहीं रहा। इस बिन्दु पर हम गोस्वामी तुलसीदास के शब्दों में कह सकते हैं-

''जाकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरत देखी तिन तैसी।।''

(ख) शोध की एक विशिष्ट प्रविधि होती है। उस प्रविधि के अनुसार कोई भी शोधार्थी शोधकार्य को सम्पन्न करता है। यदि वह उस प्रविधि से विचलन करता है तो शोध के लक्ष्य की प्राप्ति में सफल नहीं होता।

समीक्षा की कोई विशिष्ट प्रविधि नहीं होती। यह समीक्षक की रुचि और उसकी विशेषज्ञता पर निर्भर करता है कि वह कैसी समीक्षा करे।

(ग) शोध का आयाम व्यापक होता है और उसके अनेक स्तर होतें हैं। समीक्षा, शोध की अपेक्षा सीमित आयाम वाली होती है। कोई समीक्षा एकाध घण्टा से लेकर दिन-कुछ दिन अथवा महीने-दो महीने में सम्पन्न की जा सकती है किन्तु सामान्य भी शोध अपने निष्कर्ष तक पहुँचने में कहीं अधिक समय लेता ही है।

(घ) शोध की प्रविधि, विषय के अनुरूप अपना स्वरूप निर्धारित करती है। तात्पर्य यह है कि सभी विषयों के लिए एक ही (समान) शोध प्रविधि लागू नहीं की जा सकती। विज्ञान, चिकित्सा, कृषि, अभियंत्रण, भूगोल, खगोल, सामाजिक विज्ञान, भाषा साहित्य आदि विषयों के लिए शोध प्रविधि पृथक्-पृथक् होगी। यदि कोई शोधार्थी संस्कृत विद्या के क्षेत्र में शोध करना चाहता है तो उसमें भी अनेक विषय हैं। शोध के प्रकार भी कई हैं- एक ग्रन्थीय शोध, बहुग्रन्थीय शोध, तुलनात्मक शोध, समस्यामूलक शोध, सर्वेक्षणात्मक शोध इत्यादि। स्पष्ट है कि इन विविध शोध विषयों के लिए शोध प्रविधि में अन्तर होगा ही।

समीक्षा में कोई विशिष्ट शोध प्रविधि नहीं अपनायी जाती। समीक्षक किसी रचना या कृति का मूल्याङ्कन अपनी स्वतंत्र रुचि या किसी विशेष सिद्धान्त (मान्यता) के किसी मानक को आधार बनाकर करता है।

(ङ) शोध में तत्त्वान्वेषण की प्रवृत्ति प्रधान होती है। समीक्षा, समीक्षक की रुचि पर निर्भर करती है। इसमें समीक्षक की रुचि प्रधान होती है।

(च) शोध के विषय का तर्कपूर्ण विश्लेषण, विषय व्यवस्थित (सुसङ्गत) प्रतिपादन करने के पश्चात् तत्त्वचिन्तन की प्रक्रिया द्वारा निष्कर्ष तक पहुँचा जाता है। शोध सामग्री के सङ्कलन में आने वाली कठिनाइयों का उल्लेख किया जाता है। शोधकार्य के अस्पृष्ट पक्ष या अधूरे अंश की ओर निर्देश करके शोध-क्षेत्र की सम्भावनाओं का विस्तार किया जाता है।

समीक्षा सूत्रात्मक या भाष्यात्मक रूप धारण कर सकती है। यथा- 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्', 'पुराणं पञ्चलक्षणम्', 'गीता सुगीता कर्तव्या', 'उपमा कालिदासस्य', 'बाणोच्छिष्टं जगत्सर्वम्', 'माघे सन्ति त्रयो गुणाः', 'अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः' इत्यादि सूक्तियाँ समीक्षा की फलश्रुति हैं। इसका तात्पर्य यह है कि समीक्षकों ने वेदों, पुराणों, गीता और महाकाव्यादि का विश्लेषण करके उनका

मूल्याङ्कन किया। ये सूक्तियाँ वही मूल्याङ्कन या निष्कर्ष हैं जो सूत्र रूप में आकर्षक रीति से प्रस्तुत की गयी हैं। अब कोई समीक्षक पुनः इन सूत्रात्मक सूक्तियों का भाष्य (उपबृंहण) करके अपनी समीक्षा प्रस्तुत कर सकता है।

इस प्रकार, अति संक्षेपतः समीक्षा और शोध में अन्तर को स्पष्ट करते हुए कहा जा सकता है कि 'शोध' समीक्षा सहित होता है किन्तु 'समीक्षा' का शोधसहित होना आवश्यक नहीं है।

३

तृतीय अध्याय

शोध-प्रक्रिया

शोध क्षेत्र (विषय) का चयन

जिस प्रकार किसी भवन निर्माण के पूर्व वहाँ की भूमि का परिष्कार करना आवश्यक होता है, उसी प्रकार शोध की सर्वप्रथम दशा है शोध-विषय का चयन। इस कार्य में विशेष सावधानी बरतनी चाहिए। यह कार्य सुस्थिर चित्त से करना चाहिए और अविवेक पूर्ण त्वरा या जल्दीबाजी एकदम नहीं करनी चाहिए। शोध विषय का चयन करते समय अपने गुरुजनों, अनुभवी मित्रों तथा अपने शोध-निर्देशक का परामर्श लेने में तनिक भी सङ्कोच नहीं करना चाहिए। शोध विषय का चयन करते समय अधोलिखित पर अवश्य ध्यान देना चाहिए-

संस्कृत वाङ्मय अत्यन्त विशाल है। इसमें शोध की अपार सम्भावनाएँ हैं। वेदों से लेकर अद्यावधिपर्यन्त निरन्तर कुछ न कुछ रचना हो ही रही है। यह रचना भी नाना विषयगत है। अतः शोधार्थी को अपनी अभिरुचि और अध्यवसाय का ध्यान रखते हुए शोधविषय का चयन करना चाहिए। वेद एवं वैदिक साहित्य के अन्तर्गत संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, वेदाङ्ग आदि आते हैं। स्मृतियाँ (धर्मशास्त्र) भी अनेक हैं और उनमें विभिन्न विषयों का प्रतिपादन है। पुराणों का अपना पृथग् ही विशाल साहित्य है। व्याकरण भी अनेक हैं। पाणिनि व्याकरण भी प्राचीन और नव्य दो भागों में विभक्त है। दर्शन भी आस्तिक नास्तिक भेद से अनेक प्रकार की शाखाओं में विभक्त है। ज्योतिष भी गणित और फलित भेद वाला दो प्रकार का है। साहित्य की कितनी विधायें और कितने लक्ष्य-लक्षण ग्रन्थ हैं- यही स्वयं में एक बृहत् शोध का विषय है। इन सभी की नाना प्रकार की शोध दृष्टियाँ हैं। मुद्रित ग्रन्थों के अतिरिक्त

महत्त्वपूर्ण दुर्लभ पाण्डुलिपियों (हस्तलिखित पोथियों) की भी बहुत बड़ी संख्या है। किन्तु एक शोधार्थी को घबराना नहीं चाहिए। जैसे एक गोताखोर अपने कौशल और संसाधनों के बल पर अगाध-अपार समुद्र के गर्भ से मुक्तादि रत्नों को निकाल लेता है, वैसे ही एक सच्चा शोधार्थी संस्कृत के इस विशाल वाङ्मय में से अपने विषय का चयन कर ही लेता है।

शोध विषय का चयन करने में शोधार्थी की पारिवारिक पृष्ठभूमि भी सहायक होती है। यदि शोधार्थी अशिक्षित परिवार से है तब तो यह बिन्दु अप्रासङ्गिक ही है किन्तु यदि वह पारम्परिक ज्ञान से युक्त सांस्कारिक परिवार से है तो यह बिन्दु अवश्य ही विचारणीय है। साहित्य, सङ्गीत, कला, दर्शन, ज्योतिष, आयुर्वेद, व्याकरण आदि विषयों की पृष्ठभूमि वाले परिवार में उत्पन्न शोधार्थी के संस्कार में तत्तद् विषय अवश्य ही बीज रूप में विद्यमान रहते हैं। अब यदि शोधार्थी की अभिरुचि अपने परिवार की पारम्परिक विद्या (विषय) के प्रति सतीव्र है तो उसे अपने शोध-विषय का चयन इसी के अनुरूप करना चाहिए।

शोधार्थी का विशेष अध्ययन भी इस सम्बन्ध में प्रभावकारी होता हैं। प्रायः सभी विश्वविद्यालयों और उच्चशिक्षा संस्थानों में स्नातकोत्तर अध्ययन के अन्तर्गत विद्यार्थी को स्वेच्छया विशेष अध्ययन की सुविधा प्रदान की जाती है। इसके लिए पाठ्यक्रमों में वैकल्पिक व्यवस्था की जाती है। कहीं-कहीं स्नातक (आनर्स) के स्तर से ही यह व्यवस्था आरम्भ हो जाती है अन्यथा सर्वत्र स्नातकोत्तर अन्तिम वर्ष में उसे विशेषीकरण के विषय का चुनाव करना पड़ता है। यह वेद, व्याकरण, दर्शन साहित्य, भाषा विज्ञान, पालि-प्राकृत आदि के रूप में होता है। यदि किसी विद्यार्थी ने इस व्यवस्था में 'साहित्य' का विशेष अध्ययन किया है तो उसे साहित्य विषयक शोध करना उचित होगा।

शोध विषय का चयन करने में शोधार्थी की अपनी सांस्कारिक-प्रतिभा का भी महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। सांस्कारिक प्रतिभा सम्पन्न शोधार्थी किसी भी विषय की गहराई में प्रवेश कर सफल शोध की क्षमता रखते हैं। यदि शोधार्थी का विशेष अध्ययन साहित्य में है किन्तु यदि उसकी पारिवारिक या वैचारिक पृष्ठभूमि वेद, व्याकरण, दर्शन, ज्योतिष आदि की है तो वह इन विधाओं के भी किसी विशिष्ट क्षेत्र को अपने शोध के लिए चुन सकता है और अपनी प्रतिभा से स्तरीय तथा उत्तम शोधकार्य करने में सफल होगा। यद्यपि वर्तमान कालखण्ड में किसी संस्कृत विद्वान् का 'सर्वतंत्रस्वतंत्र' होना प्रायः असम्भव ही लगता है किन्तु प्राचीन काल में ऐसे

एक-दो नहीं अपितु बहुसंख्यक विद्वानों का ज्ञान होता है। महान् टीकाकार मल्लिनाथ ने स्वयं को 'पदवाक्यप्रमाणपारावारीण' लिखा है। आधुनिक काल में भी परम वैयाकरण पद्मश्री रघुनाथ शर्मा उच्चकोटि के साहित्यस्रष्टा और दार्शनिक थे। उनका ज्योतिष का ज्ञान भी अद्भुत था तथा वे वैदिक कर्मकाण्ड और धर्मशास्त्र के भी ज्ञाता थे। हमारे श्रद्धेय गुरुवर्य प्रो. अमरनाथ पाण्डेय भी ऐसे ही बहुभाषाविद् विद्वच्छिरोमणि हैं। उनका प्राच्य-पाश्चात्य उभयविध पाण्डित्य विलक्षण है। सारांश यह कि सांस्कारिक प्रतिभा सम्पन्न शोधार्थी अपनी रुचि के किसी भी विषय में सफल शोध कर सकता है।

शोधार्थी की अध्यवसाय क्षमता भी शोध विषय के चयन को प्रभावित करती है। सम्प्रति यह बिन्दु सर्वाधिक शोचनीय है। शोधार्थी अपने बौद्धिक स्तर के उन्नयन में प्रायः कृतश्रम नहीं हैं। उनमें ज्ञान-पिपासा का अभाव परिलक्षित होता है। वर्तमान परिस्थितियों में वे येन केन प्रकारेण शोधोपाधि प्राप्ति के 'जुगाड़' में दृष्टिगोचर होते हैं। वे परिश्रम से घबराते हैं और अध्यवसाय से दूर भागते हैं। उनमें न तो 'ललक' दिखायी देती है और न ही 'लगन'। किन्तु यदि शोधार्थी में अपनी अध्यवसाय क्षमता पर्याप्त है तो वह कुछ भी कर सकता है। कहावत है- 'रसरी आवत जात ते सिल पर परत निसान' अर्थात् रस्सी के लगातार रगड़ खाने से पत्थर में घाट बन जाता है। इस प्रकार, भले ही शोध विषय अपनी रुचि का न मिला हो, उसमें कोई विशेष अध्ययन भी पूर्वतः नहीं किया गया हो फिर भी यदि शोधार्थी में अध्यवसाय क्षमता है तो वह अच्छी तरह से अपने शोध कार्य को परिणाम तक ले जा सकता है। कभी-कभी ऐसा अनुभव किया जाता है कि शोध निर्देशक या शोध समितियाँ शोधार्थी पर अनजाना शोध विषय 'थोप' देती हैं। ऐसी स्थिति में पञ्चानबे प्रतिशत शोधार्थी या तो शोध में प्रवृत्त नहीं होते और यदि प्रवृत्त हो भी गये तो शोध कार्य पूरा नहीं कर पाते। किन्तु पाँच प्रतिशत शोधार्थी जिनमें अध्यवसाय क्षमता है, जो अपने इरादे के पक्के हैं, वे 'प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति' न्याय से शोधकार्य को सफल परिणति तक ले जाने में समर्थ होते हैं। इसलिए सांस्कारिक प्रतिभा के साथ ही अध्यवसाय क्षमता भी एक शोधार्थी का साधकतम सर्वोत्तम गुण है। बाह्य उपादानों- पारिवारिक पृष्ठभूमि और विशेषाध्ययन के अभाव में शोधार्थी अपने इन्हीं दोनों आत्मनिष्ठ गुणों के कारण श्रेष्ठ शोधार्थी बन सकता है।

इस प्रकार, शोध विषय का चयन करने में उपर्युक्त बिन्दुओं के परिप्रेक्ष्य में शोधार्थी को विशेष सावधानी बरतनी चाहिए और विवेकपूर्वक अभीष्ट शोध विषय का चयन करना चाहिए।

शोध शीर्षक का निर्धारण

शोध विषय के चयन के अन्तर्गत शोध-शीर्षक का निर्धारण भी आता है। शोध शीर्षक का निर्धारण, शोध विषय के चयन से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। शीर्षक निर्धारित करते हुए अधोलिखित बिन्दुओं पर विशेष ध्यान देना चाहिए-

(क) शीर्षक बहुत लम्बा नहीं होना चाहिए। यह सूत्रवत् संक्षिप्त और सारगर्भित होना चाहिए। कभी-कभी देखने में आता है कि शोध प्रबन्ध के आवरण के ऊपर का एक-तिहाई भाग शीर्षक से ही भर जाता है। यथा- 'श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण का साहित्यिक, दार्शनिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक अध्ययन।' ऐसा शीर्षक उपयुक्त नहीं कहा जा सकता। वैसे तो इस शीर्षक में उल्लिखित एक-एक पक्ष को लेकर अनेक शीर्षक बन सकते हैं फिर भी यदि यही शीर्षक अभिप्रेत हो तो इसे संक्षिप्त करके इस रूप में लिखा जा सकता है- 'श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण का समग्र मूल्याङ्कन।' अब इस शीर्षक के अन्तर्गत सारी दृष्टियों से विमर्श किया जा सकता है।

(ख) शोध शीर्षक का निर्धारण करने के समय विषय की व्यापकता का भी आकलन करना चाहिए और यह देखना चाहिए कि विषय के सापेक्ष शीर्षक की उपयुक्तता है या नहीं? कहीं शीर्षक विषय से असम्बद्ध अथवा एकदेशीय तो नहीं?

(ग) शोध शीर्षक भ्रामक अथवा सन्दिग्ध नहीं होना चाहिए। एक ही नाम के दो या दो से अधिक विद्वान् और ग्रन्थ मिलते हैं। ऐसी स्थिति में किसी ग्रन्थ पर शोध कार्य करते समय शोध शीर्षक का निर्धारण करने में ग्रन्थ के कर्ता का नाम अवश्य जोड़ना चाहिए। उदाहरण के लिए- 'राजतरङ्गिणी का ऐतिहासिक अनुशीलन'- शीर्षक भ्रामक अथवा सन्दिग्ध है क्योंकि 'राजतरंगिणी' नामक ग्रन्थ दो हैं और उसके कर्ता भी क्रमशः कल्हण और जोनराज हैं। अतः शीर्षक में स्पष्टता के लिए राजतरङ्गिणी के पूर्व 'कल्हणप्रणीत' (अथवा कृत) या 'जोनराज प्रणीत' (अथवा कृत) अवश्य ही जोड़ देना चाहिए। जो ग्रन्थ एकमात्र नाम वाला उपलब्ध होता है, उसके साथ कर्ता का नाम न लगाने पर भी शीर्षक में स्पष्टता रहेगी। यथा- महाभारत, अष्टाध्यायी, अभिज्ञानशाकुन्तल, रघुवंश, किरातार्जुनीय, उत्तररामचरित, हर्षचरित, कादम्बरी, नलचम्पू आदि।

(घ) शोध शीर्षक में अतिव्याप्ति और अव्याप्ति (सङ्कीर्णता) दोष भी नहीं होना चाहिए। उदाहरणार्थ- 'भरतमुनि-प्रणीत नाट्यशास्त्र : एक अनुशीलन।' इस शोध शीर्षक में अति व्याप्ति दोष है। इस शीर्षक में ऐसी अतिव्याप्ति है कि

पीएच.डी. ही नहीं डी.लिट्. के अनेक शोध-प्रबन्ध लिखे जा सकते हैं अथवा अकेले बीसों वर्ष भी शोध कार्य हो तो भी शायद ही पूर्ण हो। हाँ, ऐसे शीर्षक बृहत् शोध परियोजनाओं के लिए उपयुक्त हो सकते हैं।

कभी-कभी शीर्षक अव्याप्ति दोष से ग्रस्त होते हैं। यथा- कादम्बरी का नाट्यशास्त्रीय विमर्श। इसी प्रकार, अति सङ्कीर्ण शीर्षक शोध के उद्देश्य को पूर्ण करने में समर्थ ही नहीं होते। उदाहरणार्थ- 'मेघदूत में रस-परिपाक'- शोध शीर्षक अतिसङ्कीर्ण है। ऐसे शीर्षक लघु शोध पत्रों के लिए उपयुक्त हो सकते हैं।

(ङ) शोध विषय का चयन अथ च, शोध शीर्षक का निर्धारण करते समय शोध सामग्री की उपलब्धता का ध्यान अवश्य ही रखना चाहिए अन्यथा शोधार्थी लाख हाथ-पाँव चलाने पर भी किंकर्तव्यविमूढ़ता को प्राप्त होता है। कभी-कभी ऐसी असावधानी शोध निर्देशक अथवा शोध समिति के स्तर से हो जाती है। नव प्रवेशी होने के कारण शोधार्थी को इस मामले में दोष नहीं दिया जा सकता। एक शोधार्थी को- 'कालिदास के काव्यों में अङ्कप्रतीकयोजना' शीर्षक शोध विषय मिल गया। प्रारम्भ में तो वह अवश्य उत्साहित था किन्तु अन्ततः किसी तरह वह रो-धोकर, इधर-उधर से अनपेक्षित भी सामग्री बटोर कर नाम के लिए अपना प्रबन्ध पूरा कर सका। यदि शोध विषय (शीर्षक) की ऐसी स्थिति आ जाय तो शोधार्थी निःसङ्कोच अपना शोध विषय परिवर्तित करा ले।

(च) शोध शीर्षक परिमित शब्दों वाला तथा आकर्षक होना चाहिए। उसमें यथासम्भव परिनिष्ठित और सुन्दर शब्दावली प्रयुक्त होनी चाहिए।

(छ) शोध शीर्षक ऐसा होना चाहिए जिसमें श्लिष्ट-क्लिष्टता न हो। सहजतया उसके अर्थावबोध से करणीय अथवा कृतकार्य का अनुमान (परिज्ञान) हो सके।

इस प्रकार, शोध विषय का चयन, शोध शीर्षक निर्धारण करने में शोधार्थी, शोध-निर्देशक और विषय-विशेषज्ञों से घटित शोध-समिति- इन तीनों की ही महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। विषय का प्रस्तावक शोधार्थी (प्रायः) होता है और उसके समीक्षक तथा अनुमोदक शेष दो होते हैं। इस प्रसङ्ग में शोध-निर्देशक की भूमिका आदि से अन्त तक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होती है। अतः यहाँ शोध-निर्देशक के सम्बन्ध में भी कुछ कहना अप्रासङ्गिक न होगा।

शोध-निर्देशक - यदि शोधकार्य स्वतंत्रतया नहीं किया जा रहा है और किसी उपाधि के लिए शोधार्थी द्वारा सम्बद्ध विश्वविद्यालय या शोधसंस्थान के विहित नियमों से आच्छादित होकर प्रवर्तित है तो उस शोधकार्य और शोधार्थी के लिए कोई

न कोई शोध-निर्देशक (प्रायः) अवश्य ही नियुक्त होता है। कहीं-कहीं शोधार्थी अपने विषय के अनुरूप शोध-निर्देशक चुनने के लिए स्वतंत्र होता है और शोध-समिति उस अध्यापक की सहमति से (उसके निर्देशन में निर्धारित स्थान संख्या के विरुद्ध स्थान रिक्त रहने की दशा में) उसे उस शोधार्थी का निर्देशक नियुक्त कर देती है। कहीं-कहीं शोधार्थी को ऐसी स्वतंत्रता नहीं प्राप्त है और शोध-समिति नियमों के अन्तर्गत स्वयं शोध-निर्देशकों की नियुक्ति तथा आवण्टन करती है। इन दोनों ही स्थितियों में शोधार्थी किसी न किसी शोध-निर्देशक से सम्बद्ध हो जाता है, जो प्रायः अनुभव प्राप्त तथा उस विषय का विशेषज्ञ होता है। इस प्रकार के संस्थागत शोधकार्यों में शोध-निर्देशक की अतीव महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है और शोधार्थी को निरन्तर अपने निर्देशक के सम्पर्क में रहना पड़ता है।

प्रो. अभिराज राजेन्द्र मिश्र ने अपनी 'शोध प्रविधि एवं पाण्डुलिपि विज्ञान' नामक पुस्तक में शोध-निर्देशक के सम्बन्ध में दो महत्त्वपूर्ण श्लोक दिये हैं, जो अधोलिखित हैं (स्रोत अज्ञात)-

'वत्सलो वित्तमो वाग्मी सर्वविद्याविशारदः।
मृदुवाक् प्रीतिमान् विज्ञो देशिकोऽसौ प्रशस्यते।।
निर्लोभो निरहङ्कारः समदर्शी समञ्जसः।
नित्यस्वाध्यायसम्पन्नो गुरुरेको महीयते।।' (पृ. ३२)

अर्थात्, जो छात्रों के प्रति वात्सल्य भाव रखता हो, विद्वानों में अग्रगण्य हो, वाग्मी हो, समस्त विद्याओं/शास्त्रों में निष्णात हो, मृदुभाषी हो, प्रीतिमान् (अर्थात् क्रोधरहित) हो, उच्चकोटिक ज्ञानी हो, ऐसा देशिक (आचार्य) प्रशस्त होता है। जो लोभरहित हो, अहङ्कार हीन हो, सभी छात्रों के प्रति समान दृष्टि रखता हो (भेद-भाव रहित हो), सरल स्वभाव के कारण सबसे ताल-मेल बैठाने वाला हो और सतत शास्त्रानुशीलन करने में निरत हो, वह गुरु महनीय (श्रेष्ठ) होता है।

आचार्य के उपर्युक्त गुण शोध-निदेशक के भी होने चाहिए।

प्रो. रहस विहारी द्विवेदी ने शोध-निर्देशक की अर्हता पर विचार किया है। उनके अनुसार,

'स्वाध्यायी च तपोनिष्ठोऽवबोधी विषयप्रधीः।
मौलिके चिन्तने दक्षो वाग्विन्निर्देशको भवेत्।।
अधीतावबोधे च तदाचारे प्रसारणे।
प्रवृत्तिर्विदुषो यस्य शोधं कारयितुं क्षमः।।

प्रबोधे तद्रहस्यानां लोकशास्त्रोपकारके।
तत्त्वावलोकने विज्ञश्चान्यसङ्क्रान्तिसंयुतः।।'[१]

इस सन्दर्भ में प्रो. द्विवेदी आगे विचार व्यक्त करते हैं कि सामान्य कोटिक अध्यापक में शोध निर्देशक की अर्हता बमुश्किल मिलती है-

'स्वाध्याये नितरां लग्नस्तपसे न तु वृत्तये।
वाग्विन्मात्रं न पर्याप्तो वाग्विदां हि वरो भवेत्।।
पदोपाध्यादिमात्रेण कश्चिदर्हो विराजताम्।
निर्देशकत्वसामर्थ्यं केषुचिज्जातु जायते।।'[२]

शोध-निर्देशक, शोधच्छात्र का सबसे बड़ा सहयोगी होता है। शोध निर्देशक को चाहिए कि वह अपने अध्यवसाय और अनुभव का लाभ अपने शोधच्छात्र को प्रदान करे। कभी-कभी शोधच्छात्र अपने निर्देशक की उदासीनता और दुर्व्यवहार से पीड़ित तथा खिन्न होकर शोध कार्य से विमुख हो जाते हैं। अतः, शोध निर्देशक द्वारा उदारता बरतनी चाहिए और कभी भी किसी प्रकार से शोधच्छात्र को प्रताड़ित नहीं करना चाहिए। शोध निदेशक को लोलुप और ईर्ष्यालु नहीं होना चाहिए। यदि वह शोधार्थी की प्रगति में (किसी भी कारणवश) साधक नहीं बनता तो उसे बाधक भी नहीं बनना चाहिए। अपने निर्देशक के मार्ग निर्देशन और प्रोत्साहन से सामान्य भी शोधार्थी अच्छा शोध कार्य कर लेता है।

कृत कार्य का सर्वेक्षण

शोध विषय का चयन और शोध शीर्षक का निर्धारण करने से पूर्व ही कृत कार्य का सर्वेक्षण किया जाना अति आवश्यक है। ऐसा न करने पर शोध विषय का पिष्टपेषण होने की पर्याप्त सम्भावना रहती है। अतः सम्बद्ध शोध कार्य का एक पूर्व सर्वेक्षण अवश्य किया जाना चाहिए। इससे शोधार्थी को अपनी शोधविषयक दृष्टि और दिशा निर्धारित करने में बहुत सुविधा होती है और शोधार्थी अनावश्यक श्रम से बच जाता है। यदि प्रस्तावित विषय पर पूर्वतः कार्य हो चुका है तो शोधार्थी को या तो विषय परिवर्तित कर देना चाहिए अथवा विषय वही रखते हुए शीर्षक बदल देना चाहिए। उदाहरण के लिए 'महाकवि कालिदास और उनकी कृतियाँ' एक ऐसा विषय है जिस पर न जाने कितने शोध-प्रबन्ध लिखे जा चुके हैं तथापि अभी भी यह

---

१. प्रो. रहस विहारी द्विवेदी : साहित्यानुसन्धानावबोधप्रविधिः, पृ. १२.
२. वही, पृ. १५.

विषय संस्कृत शोध के क्षत्र में 'चिर नवीन चिर पुराण' बना हुआ है। नयी-नयी दृष्टियाँ आज भी कालिदास साहित्य को निचोड़ने में लगी हुई हैं। कालिदास साहित्य से अपने अनुराग के कारण यदि कोई शोधार्थी महाकवि कालिदास को ही अपना शोध विषय बनाना चाहता है तो उसे कृतकार्य का एतद्विषयक सर्वेक्षण अवश्य कर लेना चाहिए और अपने शोध के लिए उनसे इतर कोई अभिनव दृष्टि आविष्कृत करनी चाहिए। ऐसा ही रामायण, महाभारत के विषय में भी करना समीचीन होगा।

कृतकार्य सर्वेक्षण में शोधार्थी अधोलिखित से सहयोग प्राप्त कर सकता है-

१. **संस्कृत के विद्वान् आचार्य** - ऐसे आचार्य जिनका अपना पर्याप्त शोध-अनुभव है और जो शोध विषयक अद्यतन जानकारी रखते हैं। जो अनेक विश्वविद्यालयों तथा शोध संस्थानों की शोध समितियों के सदस्य हैं। इनसे प्राप्त सूचनाएँ प्रामाणिक होंगीं।

२. प्रायः सभी विश्वविद्यालयों में शोधच्छात्र की मौखिक परीक्षा के पश्चात् उसका शोध प्रबन्ध विश्वविद्यालय के केन्द्रीय ग्रन्थालय/विभागीय पुस्तकालय में रख दिया जाता है। अतः उन ग्रन्थालयों में भी यथा सम्भव जाकर पता लगाना चाहए।

३. संस्कृंत की शोधगोष्ठियों और सम्मेलनों/अधिवेशनों में जाकर भी कृत कार्य के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करनी चाहिए। वहाँ एकत्र विद्वानों से इस विषय में परामर्श का भी सहज अवसर मिल जाता है।

४. विभिन्न स्थानों से प्रकाशित होने वाली शोध पत्रिकाओं के माध्यम से भी एतद्विषयक सूचना प्राप्त हो सकती है। कुछ पत्रिकाओं में विभिन्न विश्वविद्यालयों में पीएच.डी./डी.लिट्. उपाधि के लिए स्वीकृत विषयों (शोध-शीर्षकों) तथा उपाधि के लिए प्रस्तुत/स्वीकृत शोध प्रबन्धों की सूची भी नियमिति रूप से प्रकाशित की जाती है। कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय से प्रकाशित 'प्राची ज्योति' नामक संस्कृत शोध पत्रिका इस कार्य को करने में उल्लेखनीय है। संस्कृत विभाग, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी द्वारा प्रकाशित की जाने वाली 'भास्वती' नामक शोध पत्रिका के एक प्राचीन अंक में इस विभाग में तब तक हुए संस्कृत शोध शीर्षकों का प्रकाशन हुआ है।

५. भारतीय विश्वविद्यालय संघ (Association of Indian Universities) समस्त भारतवर्ष में हो रहे विभिन्न विषयों के शोध कार्यों का विवरण एकत्र करता है और प्रारम्भ से लेकर अद्यतन शोध शीर्षकों तथा उनके शोधार्थियों के नाम के साथ

प्रकाशित करता है। प्रत्येक विषय के लिए अलग-अलग ग्रन्थ होते हैं। संस्कृत विषयक शोध कार्यों की सूची भी पृथक् ग्रन्थ में प्रकाशित है। संघ के नयी दिल्ली कार्यालय से ग्रन्थ क्रय किये जा सकते हैं।

६. अधुनातन संचार (सूचना तकनीकी) माध्यमों के कारण ऐसी सूचनाएँ प्राप्त करना और भी आसान हो गया है। अब विश्वविद्यालयों तथा शोध संस्थानों की अपनी-अपनी वेबसाइट विकसित है। उन पर संस्थायें वांछित सूचनाएँ डाला करती हैं। विभागीय शोध विवरण भी इन वेबसाइट्स पर उपलब्ध कराये जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त INTERNET (इंटरनेट)पर भी एतद्विषय सूचनाएँ होती हैं और वहाँ से प्राप्त की जा सकती हैं।

इस प्रकार, उपर्युक्त माध्यमों की सहायता से कृतकार्य सर्वेक्षण अवश्य करना चाहिए।

शोध विषयक परिकल्पना

'परिकल्पना' एक आगन्तुक विचार है जो स्वानुभव अथवा परानुभव से उद्भूत होता है। शोध में परिकल्पना का विशिष्ट महत्त्व है। कोई भी परिकल्पना स्वसम्बद्ध विषयों के निरीक्षण और विषयगत तथ्यों के परीक्षण के पश्चात् अस्तित्व में आती है तथा कुछ काल पश्चात् एक सिद्धान्त का स्वरूप ग्रहण कर लेती है। पुनः उस सिद्ध सिद्धान्त के द्वारा कोई अन्य नवीन परिकल्पना अस्तित्व में आती है। विज्ञान विषयक अनुसन्धानों में कहीं-कहीं परिकल्पना ही शोध का आधार बन जाती है। अन्य विषयों में भी परिकल्पना शोध-निष्कर्ष तक पहुँचने में विशिष्ट भूमिका का निर्वहन करती है।

संस्कृत काव्यशास्त्र से हम परिकल्पना का एक निदर्शन प्रस्तुत कर सकते हैं। भरतमुनि के रससूत्र[३] की चार आचार्यों द्वारा की गयी व्याख्या अतीव प्रसिद्ध है। इस सूत्र के आधार पर रसनिष्पत्ति में परिकल्पना किस प्रकार प्रभावी रही- इसका अनुभव हम (काव्यज्ञ/सहृदय) स्वयं कर सकते हैं। रस सूत्र का अवलोकन करके यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि रस की अवस्थिति कहाँ किसमें है?- मूल पात्र अर्थात् अनुकार्य में? अथवा उस पात्र के चरित का अभिनय करने वाले अनुकर्ता में? अथवा वहाँ विद्यमान सामाजिक प्रेक्षक में?

आचार्य भट्टलोल्लट ने परिकल्पना की कि रस की अवस्थिति मूलपात्र अर्थात् अनुकार्य में है। **आचार्य शङ्कुक** ने भट्टलोल्लट की इस परिकल्पना को

३. विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः। (नाट्यशास्त्र).

पुरस्कृत करते हुए (आगे बढ़ाते हुए) चित्रतुरगन्याय से अनुकर्ता को अनुकार्य मानकर विलक्षण अनुमान के द्वारा रसानुभूति की परिकल्पना की। **आचार्य भट्टनायक** ने इस परिकल्पना को आगे बढ़ाते हुए साधारणीकरण की प्रक्रिया का उपयोग करते हुए भावकत्व और भोजकत्व- इन दो अपूर्व भावों से रसानुभूति की परिकल्पना की। अन्ततः आचार्य अभिनवगुप्त ने साधारणीकरण की परिकल्पना को आधार बनाकर सहृदय प्रेक्षक में रसानुभूति का उपपादन किया।

यहाँ हमने देखा कि साहित्यगत शोध में भी परिकल्पना का उतना ही महत्त्व है जितना कि विज्ञानगत विषयों में। शोधार्थी का स्वभाव अथवा उसका मनोविज्ञान, परिकल्पनाओं की उत्कृष्टता अथवा अपकृष्टता का हेतु बन सकता है। इसके अतिरिक्त उसकी अपनी योग्यता, अपना अनुभव और अपनी कल्पना शक्ति (Power of Imagination) भी परिकल्पना को तराशने का कार्य करती है। यदि महाकवि जयदेव के अमरकाव्य **गीतगोविन्द** को शोध-विषय बनाया जाय तो एक नितान्त भौतिकवादी सोच वाला शोधार्थी सांसारिक धरातल पर शृङ्गार रस की परिकल्पना कर सकता है किन्तु भक्ति-भाव से परिपूर्ण शोधार्थी उसमें राधा-कृष्ण के अलौकिक प्रेम की परिकल्पना करेगा। यदि शोधार्थी अध्यात्मवादी है तो वह परमात्मा के साथ जीव (आत्मा) के विरह-मिलन और उनकी एकता की परिकल्पना करेगा। यदि शोधार्थी संगीत में रुचि रखता है अथवा संगीतशास्त्र में प्रवीण है तो शोध में उसकी परिकल्पना सङ्गीत की ओर उन्मुख होगी। इस प्रकार शोधार्थी की दृष्टि, स्वभाव तथा मनोगत भावों से एक ही शोध विषय में नाना प्रकार की सार्थक परिकल्पनाएँ की जा सकती है क्योंकि परिकल्पना सम्भावना टटोलने का कार्य करती है।

शोध प्रक्रिया के अन्तर्गत यदि दो या दो से अधिक ऐसे तथ्य प्रकाश में आते हैं जो समानता की दृष्टि से परस्पर सन्निकट हैं तब शोधार्थी की परिकल्पना होती है कि इन तथ्यों का उत्स कहीं अन्यत्र है अथवा नहीं है। अपनी इस परिकल्पना पर आगे बढ़ता हुआ वह निरीक्षण और परीक्षण के द्वारा उस परिकल्पना को दृढ़ आधार प्रदान करते हुए उसे मूर्त रूप देता है और फिर विषयगत सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है।

ऊपर यह प्रतिपादित किया जा चुका है कि परिकल्पना का आधार व्यक्तिगत अनुभव भी है। अभिज्ञान शाकुन्तल में कण्व के आश्रम में प्रविष्ट राजा (दुष्यन्त) निसर्ग सुन्दरी कन्या शकुन्तला को देखते ही उसके प्रति आकृष्ट होता है जबकि दो सुन्दरी कन्यायें (शकुन्तला की सखियाँ) वहाँ साथ में हैं। किन्तु मात्र शकुन्तला के

प्रति आसक्ति का कारण ढूँढ़ते हुए वह परिकल्पना करता है कि यह ऋषि कन्या नहीं हो सकती, इसे अवश्य ही क्षत्रिय होनी चाहिए-

असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः।
सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः।। (१/२०)

चूँकि समुचित भावों को प्रश्रय देने वाला उसका आर्य (श्रेष्ठ) मन इस कन्या को चाह रहा है, अतः निश्चय ही यह क्षत्रिय कन्या है। क्योंकि सन्देहास्पद वस्तुओं में सज्जनों के अन्तःकरण की प्रवृत्तियाँ प्रमाण होती हैं। आगे वह उसकी सखियों से बात करके अपनी परिकल्पना को पुष्ट (सिद्ध) कर लेता है और उसका यह विश्वास (परिकल्पना रूप) सिद्धान्त में परिणत हो जाता है- 'भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि।'

भरतमुनि का रससूत्र भी उनके अपने अनुभव के आधार पर की गयी परिकल्पना है और उन चारों व्याख्याकारों की व्याख्यायें भी उनकी निजी परिकल्पना की परिणाम हैं।

यह जिज्ञासा होनी स्वाभाविक है कि शोध में पूर्व परिकल्पना आवश्यक है अथवा नहीं? कुछ विद्वान् आवश्यक मानते हैं तो कुछ नहीं भी मानते हैं। वस्तुतः इस जिज्ञासा का कोई सर्वमान्य समाधान नहीं है। परिकल्पना की आवश्यकता शोधार्थी की मनोवृत्ति या शोध विषय की प्रकारता पर निर्भर करता है।

विषय सापेक्ष शोध की विभिन्न विधियाँ

लोक में एक कहावत है कि सभी जानवरों को एक ही डण्डे से नहीं हाँका जाता। जिस कद काठी और स्वभाव का पशु है उसके अनुरूप ही डण्डा भी रखना पड़ता है। उसी प्रकार, विषय के अनुसार शोध विधि का भी निर्धारण करना पड़ता है। यदि शोध विषय भाषा साहित्य विषयक है, समाज विज्ञान विषयक है, विज्ञान विषयक है, कला-सङ्गीत विषयक है, कृषि विषयक है, चिकित्साशास्त्र विषयक है, अथवा अभियांत्रिकी विषयक है; तो निश्चय ही उनकी विधियाँ भिन्न-भिन्न होंगी। भाषा साहित्य में भी यदि संस्कृत भाषा और साहित्य (वाङ्मय) को लेते हैं तो इस विषय का क्षेत्र भी नितान्त व्यापक है। इसके अन्तर्गत वेद, व्याकरण, दर्शन, साहित्य, पुराण, ज्योतिष, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र आयुर्वेद आदि अनेक विषय बन जाते हैं। इनमें से प्रत्येक के भी अनेक विभाग हैं। उदाहरणार्थ संस्कृत-साहित्य को ही लेते हैं। इसमें भी लक्ष्य ग्रन्थ और लक्षण ग्रन्थ- इन दो मूल आधारों के अनुसार, रामायण, महाभारत के पश्चात् श्रव्य काव्य और दृश्य काव्य आते हैं जिन्हें लौकिक संस्कृत

साहित्य के अन्तर्गत रखा जाता है। श्रव्य काव्य भी गद्य, पद्य और मिश्र काव्य के रूप में त्रिधा विभक्त है। इनके ग्रन्थों की प्राचीन अर्वाचीन रीति से विशाल संख्या है। यही हाल दृश्यकाव्य में रूपकों का है। फिर लक्षण ग्रन्थों में काव्यशास्त्र और नाट्यशास्त्र के भी बहुसंख्यक ग्रन्थ हैं। इन सबके सम्बन्ध में सिद्धान्त और दृष्टिभेद से शोध की अनेक प्रकारता और अनन्त सम्भावनाएँ उपस्थित होंगी। अतः विषय का चयन सावधानीपूर्वक करके तदनुरूप शोध विधि का आश्रयण करना श्रेयस्कर होगा।

चूँकि हमारे विचार का क्षेत्र संस्कृत वाङ्मय तक ही सीमित है अतः हमें इसी दायरे में ही रहकर प्रतिपाद्य का विचार करना होगा। संस्कृत वाङ्मय के विषय-विस्तार का उल्लेख विगत पृष्ठ में किया जा चुका है। उसे देखते हुए हम शोध विषयों को मूल रूप से दो भागों में विभक्त कर सकते हैं- १. शास्त्रीय और २. शास्त्रेतर। शास्त्रीय विषयों के अन्तर्गत वेदवेदाङ्ग से लेकर धर्मशास्त्र, काव्यशास्त्र, अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र, आयुर्वेद, सङ्गीत आदि का ग्रहण हो जायेगा। शास्त्रेतर विषयों में पुराण, रामायण, महाभारत से लेकर अद्यावधिपर्यन्त विरचित काव्य, नाट्यादि साहित्यिक रचनाओं का परिगणन होगा। इन दोनों ही भेदों में शोध के विषय सैद्धान्तिक, समस्या-प्रधान अथवा एक ग्रन्थीय हो सकते हैं। पाण्डुलिपि विषयक शोध में प्राचीन पाण्डुलिपियों का सम्पादन अथवा मूल पाठ निर्धारण भी शोध-प्रकारता के अन्तर्गत गृहीत हो रहे हैं। इन समस्त विषयों में उपलब्ध सामग्री के आधार पर विमर्शात्मक (विवेचनात्मक, विश्लेषणात्मक, समीक्षात्मक, तुलनात्मक) अध्ययन की पारम्परिक विधि अपनायी जा सकती है। सैद्धान्तिक अथवा समस्या-प्रधान शोधविषयों के सन्दर्भ में सर्वेक्षणात्मक विधि का भी आश्रयण किया जा सकता है। इन बातों के स्पष्टीकरण के लिए एक उदाहरण दिया जा सकता है।

२०१२ ई. में जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली से विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र की गवेषिका मञ्जुसिंह द्वारा पीएच.डी. उपाधि हेतु प्रस्तुत एक शोध प्रबन्ध मेरे पास मूल्याङ्कन हेतु आया। उस शोध प्रबन्ध का शीर्षक है- 'रस : सिद्धान्त एवं अनुभूति।' यह शोधप्रबन्ध कुल मिलाकर १६२ पृष्ठों का है। रससिद्धान्त पर अब तक बहुत सारा कार्य विद्वानों और शोधार्थियों द्वारा किया जा चुका है किन्तु यह शोध कार्य अपने लघुकलेवर में भी मुझे कुछ विशिष्ट लगा। जैसा कि शीर्षक से स्पष्ट है कि शोधप्रबन्ध (अथवा, शोध कार्य) दो भागों में विभक्त है- रस सिद्धान्त और रसानुभूति। प्रथम भाग के लिए चार अध्यायों और द्वितीय भाग के

लिए मात्र एक अध्याय की योजना की गयी। इस प्रकार, उपसंहार को छोड़कर इस शोधप्रबन्ध में कुल पाँच अध्याय हैं।

गवेषणा कार्य और शोधप्रबन्ध लेखन में दो प्रकार की शोधप्रविधि का आश्रयण किया गया है। सिद्धान्त पक्ष के निरूपण में संस्कृत की परम्परागत समीक्षात्मक शोधप्रविधि प्रयुक्त है तथा अनुभूति पक्ष के प्रस्तुतीकरण में प्रायोगिक विश्लेषणात्मक प्रविधि का प्रयोग किया गया है। इसके अन्तर्गत पठन और प्रेक्षण को आधार बनाकर एक तर्कसंगत प्रश्नावली (कुल ३५ प्रश्न) के माध्यम से २० से ३० वर्ष के आयुवर्ग के छात्र/छात्राओं के उत्तरों पर आधारित उनके अनुभवों के सन्दर्भ में रसविषयक लोकानुभूतियों का विश्लेषण (रस सिद्धान्त की पृष्ठभूमि में) करके निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है।

मेरी दृष्टि में (शोधप्रबन्ध के परीक्षक के रूप में व्यतीत प्रायः तीस वर्ष की अवधि के अन्तर्गत) संस्कृत साहित्य में इस प्रकार की विश्लेषणात्मक प्रायोगिक (प्रश्नावली के आधार पर) प्रविधि प्रथमतया आयी। यह एक अभिनव प्रयोग है।[४] संस्कृत (जैसे परम्परागत विषय) के क्षेत्र में यह प्रयोग मुझे अच्छा लगा। समाज-विज्ञान के विषयों में तो प्रश्नावलियों पर आधारित शोध कार्य बहुशः होते हैं किन्तु भाषा-साहित्य विषयक शोध कार्यों में ऐसा प्रयोग अभी तक प्रायः न के बराबर ही रहा है। सर्वेक्षणात्मक शोध कार्यों में यह प्रयोग प्रचलित है। यहाँ, यह उदाहरण देने का मेरा अभिप्राय मात्र इतना ही संकेतित करना था कि संस्कृत वाङ्मय में भी पारम्परिक विधि से शोध कार्य करने के साथ ही इस प्रकार की अभिनव विधि (अथवा, प्रविधि) को अपनाया जा सकता है।

शोध प्रारूप का निर्माण

शोध-विषय का निर्धारण हो जाने के पश्चात् शोधार्थी के समक्ष सबसे पहला

४. मूल्याङ्कन करते हुए मैंने अनुभव किया कि प्रश्नावली तैयार करने तथा उन प्रश्नों का समुचित उत्तर प्राप्त करने में गवेषिका ने कोई तात्त्विक रुचि नहीं दिखायी। प्रश्नावली के निर्माण में सैद्धान्तिक पक्ष प्रायः अछूता रहा और जो व्यावहारिक प्रश्न बनाये गये, वे भी सामान्य कोटिक थे। प्रश्नों के उत्तर भी विषय के अधिकारी अध्येताओं या विद्वानों से नहीं प्राप्त किये गये। प्रश्नावली को सहजतया अपरिपक्व चिन्तन वाले २० से ३० वर्ष के आयु वर्ग के छात्र-छात्राओं में वितरित कर उनसे उत्तर प्राप्त किया गया। मेरा अनुमान है कि शोध के इस नवाचार (प्रयोग) में गवेषिका की अनुभवहीनता या उपेक्षा बुद्धि प्रधान थी। मुझे नहीं लगता कि उसने अपने शोध निर्देशक से इस सम्बन्ध में कोई गम्भीर परामर्श लिया था।

कार्य होता है शोध प्रारूप के निर्माण का। शोध प्रारूप का निर्माण एक प्रकार से शोधार्थी की प्रबोधकता से सम्बद्ध होता है क्योंकि कार्य चाहे छोटा हो अथवा बड़ा, कार्यारम्भ के पूर्व प्रत्येक कार्यार्थी उसकी एक रूपरेखा (Outlines) बना लेना चाहता है। यह कार्य की प्रारम्भिक स्थिति होती है। यह आवश्यक नहीं कि यह परिवर्तनीय न हो। परिस्थितियों और सामग्री की उपलब्धता या अनुपलब्धता के आधार पर पूर्वनिर्मित (अथवा, स्वीकृति) भी शोध प्रारूप में किञ्चित्परिवर्तन के लिए अवकाश (गुंजाइश) होनी चाहिए- ऐसा मेरा अपना मानना है। किन्तु शोधार्थी को शोध प्रारूप का निर्माण सहसा न करके सुविचारित रूप से करना चाहिए। ऐसा करने के लिए उसे अपनी आवश्यकताओं और सम्भावनाओं की परख भलीभाँति कर लेनी चाहिए। इस प्रकार तैयार किये गये शोध प्रारूप के आधार पर वह न केवल अपने शोध कार्य को गति प्रदान करता है अपितु सम्पन्न किये गये शोध कार्य का लेखन करके शोध-प्रबन्ध के रूप में उपस्थापित करता है। शोधप्रबन्ध वस्तुतः कृत शोध कार्य के विवरण और निष्कर्ष का प्रबन्धकीय स्वरूप होता है।

शोध प्रारूप के निर्माण के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि शोध प्रारूप का निर्माण शोध सामग्री सङ्कलन से पूर्व किया जाय अथवा उसके बाद किया जाय। इस प्रश्न के सम्बन्ध में कोई ऐकान्तिक समाधान प्राप्त करना दूर की कौड़ी होगी। क्योंकि इस प्रश्न पर विद्वानों में ऐकमत्य का अभाव है। अनेक वरिष्ठ विद्वानों का मानना है कि शोध विषय अन्तिम रूप से निर्णीत/स्वीकृत हो जाने के पश्चात् पर्याप्त समय लगाकर अध्यवसायपूर्वक शोध सामग्री का सङ्कलन कर लेने के बाद ही शोध प्रारूप को अन्तिम रूप देना चाहिए। किन्तु सम्प्रति इससे विपरीत, विश्वविद्यालयों और शोध संस्थानों में विषय निर्धारण के साथ ही शोध प्रारूप को अन्तिम रूप से बनाकर प्रस्तुत करने तथा शोध समितियों में स्वीकृत कराने की परम्परा आरम्भ हो गयी है।[५] मेरा अनुमान है कि यह व्यवस्था शोधार्थी की सुविधा की दृष्टि से किन्हीं विद्वानों ने उदारता प्रदर्शित करते हुए लागू की होगी और कालान्तर में सङ्क्रामक रोग की तरह यह सर्वत्र व्याप्त हो गयी। ठीक है, इस परम्परा से भी कोई विषय-विशेषज्ञ विद्वानों से परामर्श करके शोध प्रारूप का निर्माण करता है। शोध समितियों

५. कुछ संस्थाओं के शोध प्रभाग इस विषय में इतने दृढ़ाग्रही हैं कि वे शोध प्रबन्ध को मूल्याङ्कन हेतु भेजने के साथ ही उसका शोध प्रारूप भी परीक्षक के पास भेजते हैं और यह अपेक्षा रखते हैं कि यदि शोधच्छात्र ने शोध प्रबन्ध लेखन में इससे विचलन किया हो तो उस सम्बन्ध में टिप्पणी (Remark) दी जाय।

के द्वारा स्वीकृत शोध प्रारूप का अनुसरण करके ही शोध कार्य करने के लिए शोधार्थी बाध्य हो जाता है। ऐसा करने में यह एक दोष आना सम्भावित है कि यदि शोध प्रारूप की सीमा से अलग हटकर कोई शोध सामग्री प्राप्त हो जाती है तो शोधार्थी उसका उपयोग नहीं कर सकेगा। अतः, मेरा विनम्र परामर्श यह है कि प्रारम्भिक रूप से एक शोध प्रारूप बनाकर शोधार्थी सामग्री सङ्कलन करे और शोध सामग्री का सङ्कलन कर लेने के पश्चात् तथा शोध प्रबन्ध का लेखन आरम्भ करने से पूर्व अपने शोध प्रारूप को पुनरीक्षित कर अन्तिम रूप से शोध समिति (चाहे वह विभागीय अन्तःशोध समिति क्यों न हो) में प्रस्तुत कर उसे स्वीकृत कराये।

अस्तु, एतद्विषयक चर्चा को अब यहीं विराम देकर, आगे एक व्यवस्थित शोध प्रारूप का उल्लेख करना उचित होगा।

किसी भी शोध प्रारूप में प्रमुखतया चार विषय-विभागों का संयोजन किया जाता है-

१. विषयगत प्रस्तावना,
२. शोध प्रबन्ध का विवेच्य विषय विभाजन,
३. उपसंहार अथवा, शोध निष्कर्ष का प्रतिपादन,
४. परिशिष्ट।

उदाहरण-

शोध के लिए स्वीकृत विषय

महाकवि भवभूति के रूपकों का शास्त्रीय अनुशीलन

शोध प्रारूप

प्रथम अध्याय

महाकवि भवभूति का जीवन परिचय एवं स्थिति काल।

द्वितीय अध्याय

महाकवि भवभूति का कर्तृत्व, उनके रूपकों की विषयवस्तु।

तृतीय अध्याय

नाट्य साहित्य का उद्भव एवं विकास, संस्कृत नाट्य साहित्य में भवभूति के रूपकों का स्थान (महत्त्व)।

चतुर्थ अध्याय

भवभूति के रूपकों की नाट्य शास्त्रीय समीक्षा : वस्तु, नेता और रस।

(क) वस्तु-समीक्षा - रूपकों के कथानकों का मूल स्रोत एवं उनको

प्रकारता, कवि द्वारा किये गये परिवर्तन-परिवर्धन, आधिकारिक एवं प्रासङ्गिक कथावस्तु।

(ख) नेतृ-समीक्षा - पात्रों का नाट्य शास्त्रीय वर्गीकरण, पात्रों का चरित्र चित्रण।

(ग) रस-समीक्षा - महाकवि के रूपकों में रस योजना, अभिव्यक्ति एवं परिपाक।

पञ्चम अध्याय

भवभूति के रूपकों में प्रयुक्त काव्यशास्त्र के तत्त्व

(क) छन्द : प्रयोग एवं भाषा शैली। संवाद-योजना। प्रकृति चित्रण।

(ख) अलङ्कार-विन्यास।

(ग) ध्वनि-सन्निवेश।

(घ) गुण, रीति तथा दोष।

(ङ) औचित्य विमर्श।

षष्ठ अध्याय

भवभूति के रूपकों में दर्शनशास्त्र एवं अन्य शास्त्रों के सिद्धान्त।

उपसंहार

परिशिष्ट

(क) आधारग्रंथ एवं उनके विभिन्न प्रामाणिक संस्करण।

(ख) सहायक ग्रन्थ।

(ग) नाट्यशास्त्र के पारिभाषिक शब्द (सविवरण)।

(घ) सङ्केताक्षर सूची।

(**निर्देश** - चतुर्थ, पञ्चम एवं षष्ठ अध्याय में प्रत्येक रूपक क्रमशः विवेच्य है।)

शोध प्रारूप निर्माण के सन्दर्भ में उल्लेख किया जा चुका कि लेखन की दृष्टि से शोध प्रबन्ध को प्रमुखतया चार भागों में विभक्त किया जाता है- प्रस्तावना, विषय प्रतिपादन, उपसंहार और परिशिष्ट। शोधार्थी को अपने शोध प्रबन्ध की समग्रता का ध्यान रखते हुए इन चारों विभागों पर समुचित ध्यान देना चाहिए। इन चारों का क्रमशः विचार किया जा रहा है-

१. प्रस्तावना - 'प्रस्तावना' शब्द के पर्याय रूप में भूमिका, अवतरणिका, पूर्वपीठिका आदि शब्दों का भी प्रयोग किया जाता है। जिस प्रकार प्राणी के शरीर में

मुख का महत्त्व है (मुखमिव मुख्यम्) उसी प्रकार, किसी ग्रन्थ या शोध प्रबन्ध में प्रस्तावना या भूमिका का महत्त्व होता है। इसीलिए कोई-कोई लेखक इसके लिए 'विषय-प्रवेश' शब्दयुग्म का प्रयोग करते हैं। प्रस्तावना, विषय सम्बन्धी होनी चाहिए और उसमें प्रभावशाली ढंग से लेखक को अपने उद्देश्य की सूचना देनी चाहिए। जैसे मुख ही शरीर में प्रथम आकर्षण का हेतु होता है और उसी से व्यक्ति का अभिज्ञान होता है; वैसे ही प्रस्तावना का स्वरूप भी निर्धारित करना चाहिए। उसमें असम्बद्ध वस्तु का सन्निवेश नहीं करना चाहिए। शोध प्रबन्ध के समग्र कलेवर को दृष्टिगत करते हुए प्रस्तावना का आकार सन्तुलित रखना चाहिए। वह न तो अतिसंक्षिप्त हो और न ही अतिविस्तृत। प्रस्तावना में अधोलिखित का सन्निवेश अवश्य हो-

(क) अङ्गीकृत शोधकार्य से सम्बद्ध विषय पर यदि पूर्वतः शोधकार्य किये जाने की जानकारी मिली हो तो उनका सिंहावलोकन अवश्य ही किया जाना चाहिए।

(ख) अपने द्वारा करणीय की उस दिशा का उल्लेख अवश्य करना चहिए जो पूर्ववर्ती शोधकार्य/कार्यों में अकृत हो अथवा अनालोचित हो।

(ग) अपने शोधकार्य के उद्देश्य का स्पष्ट उल्लेख करना चाहिए। इस प्रकार, अङ्गीकृत शोध विषय के क्षेत्र में अपने इस कार्य का महत्त्व अथवा शोधार्थी के स्वोपज्ञ (मौलिक) योगदान को भी रेखाङ्कित किया जाना चाहिए।

(घ) अपने शोधकार्य के लिए अपेक्षित सामग्री के सङ्कलन की प्रविधि और इसमें अनुभूत कठिनाइयों, बाधाओं की भी संक्षिप्त चर्चा होनी चाहिए।

२. विषय-प्रतिपादन - शोध-प्रबन्ध के लेखन से पूर्व सङ्कलित सामग्री को सुव्यवस्थित अथवा क्रमबद्धतापूर्वक संयोजित कर लेना चाहिए। प्रारूप में निर्धारित अध्याय क्रम से उस सामग्री का समुचित विनियोग करने में सुविधा के लिए सामग्री को व्यवस्थित करना आवश्यक है। यदि प्रारूप निर्माण के समय अध्यायों का क्रम निर्धारण करने में कोई त्रुटि रह गयी हो, अथवा शीर्षकों, उपशीर्षकों के अङ्कन में कोई च्युति हो गयी हो तो अपने निर्देशक से परामर्श कर अनुज्ञापूर्वक उसमें संशोधन कर लेना चाहिए अन्यथा, शोध प्रबन्ध का स्वरूप असङ्गत सा लगता है।

अध्याय-क्रम से विषय का तर्कसङ्गत प्रतिपादन प्रभावशाली तरीके से करना चाहिए। किसी भी अध्याय को अनावश्यक रूप से न तो विस्तृत करना चाहिए और न ही सङ्कुचित। उपलब्ध विवेचित सामग्री के अनुपात में ही अध्याय

का आकार उपयुक्त होता है। जैसे किसान खलिहान में भूसा और अनाज अलग करता है, अथवा, गृहिणी घर में अनाज को फटक कर उसके साथ आई हुई व्यर्थ की वस्तुओं को अलग कर फेंक देती है; प्रबन्ध का लेखन करते समय शोधार्थी को भी ऐसा ही करना चाहिए। यदि सङ्कलित सामग्री में कुछ सङ्कलन ऐसा भी हो गया है जो अनुपयुक्त है, अनावश्यक या अनपेक्षित प्रतीत हो रहा है तो उस सामग्री का परित्याग करना श्रेयस्कर है। शोधार्थी सावधानीपूर्वक प्रयुज्यमान वस्तु को उपयोगिता और गुणवत्ता की दृष्टि से बार-बार परखे, शोधन करे और तब उसे अपने शोध प्रबन्ध में यथास्थान प्रयुक्त करे। केवल शोध प्रबन्ध के कलेवर संवर्धन की दृष्टि से अनपेक्षित, अनौचित्यपूर्ण त्याज्य अंश को कदापि शोध प्रबन्ध में स्थान न दे। इसे स्पष्ट करने के लिए मैं अपना अनुभव बताना चाहता हूँ। कुछ शोध प्रबन्ध मेरे पास परीक्षणार्थ ऐसे भी आये जो देखने में विशालकाय आकार वाले थे। जब मैंने उनके शीर्षक और अन्दर की प्रतिपादित वस्तु देखी तो हैरान रह गया। कई कारणों से उनके कलेवर में विशालता थी। उनमें से एक कारण अनावश्यक रूप से अनपेक्षित सामग्री का सङ्कलन भी था। यद्यपि वे वस्तुएँ विषय से असम्बद्ध न थीं तथापि उनका संक्षेपीकरण अथवा त्याग किया जा सकता था। उदाहरण के लिए, पुराण पर आधारित शोध विषय पर लिखे गये एक प्रबन्ध का प्रथम अध्याय ही सौ से अधिक पृष्ठों का था। पुराण परिचय की जो सामग्री तद्विषयक इतिहास ग्रन्थों में बहुशः उपलब्ध होकर बहुपरिचित है, उसी को यहाँ-वहाँ से लेकर उस अध्याय में भर दिया गया था। शोध प्रबन्ध की दृष्टि से यह अनावश्यक है। आवश्यकता समझने पर उसे अधिकतम तीस-चालीस पृष्ठों में प्रस्तुत किया जा सकता था क्योंकि उसमें जानने के लिए कोई अपूर्व वस्तु नहीं थी। शोधार्थी इसी प्रकार महाकवि कालिदास विषयक शोध प्रबन्धों में भी करते हैं। जिन तथ्यों और विवरणों को संस्कृत का सामान्य भी अध्येता जानता है, उसका अनावश्यक सन्निवेश शोध प्रबन्ध में नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार, प्रबन्ध के अन्य अध्यायों के सम्बन्ध में भी ध्यान देना चाहिए।

३. उपसंहार – 'उपसंहार' में कृत शोधकार्य का सारांश समाविष्ट होात है। अनेक शोधार्थी उपसंहार में शोधप्रबन्ध के तत्तद् अध्यायों की वस्तु को ही उसी क्रम में संक्षिप्त करके लिख देते हैं। यह स्थूल प्रयोग है। यदि ऐसा ही करना है तो अलग से 'शोध संक्षेपिका' बनाकर प्रस्तुत करने की क्या आवश्यकता? कुछ शोधार्थी उपसंहार के अन्तर्गत घुमा-फिरा कर अपना शोध प्रारूप ही लिख देते हैं। यह तो

और भी अनुचित है। ऐसा कथमपि नहीं करना चाहिए। एक प्रभावशाली उपसंहार की योजना करते समय अधोलिखित का ध्यान अवश्य रखना चाहिए-

(क) शोध समस्या का पुनः उल्लेख करके उसके समाधान हेतु स्वीकृत (अपनायी हुई) विधि की चर्चा करनी चाहिए।

(ख) शोधकार्य के निष्कर्ष का प्रतिपादन सन्तुलित रीति से करना चाहिए।

(ग) शोध-विषय से सम्बद्ध अपेक्षित किन्तु अनुपलब्ध सामग्री का उल्लेख अवश्य करना चाहिए। इस कारण यह शोधकार्य कितना प्रभावित हुआ- यह आकलन भी प्रस्तुत करना चाहिए। उदाहरणार्थ- यदि किसी ग्रन्थ (यथा- मेघदूतादि ग्रन्थ) के पाठान्तरों (पाठ भेदों) पर शोधकार्य प्रवर्तमान हो और उस ग्रन्थ की मुद्रित और हस्तलिखित प्रतियों की जानकारी सूचीपत्रों (Catalogues) से प्राप्त हो, परन्तु सूचीपत्र में उल्लिखित कोई प्रति (या प्रतियाँ) प्रयत्न करने पर भी न उपलब्ध हों, तो निश्चय ही शोधकार्य प्रभावित होगा और उसके उद्देश्य की पूर्ति नहीं होगी। अभिप्राय यह कि सम्यक् पाठालोचन नहीं हो सकेगा। अतएव इस स्थिति का उल्लेख किया जाना चाहिए।[६]

इस प्रकार, शोधकार्य में छूट गये अथवा अधूरे रह गये अंश का सङ्केत उपसंहार में अवश्य कर देना चाहिए। इससे लाभ यह होगा कि भविष्य में कोई शोधार्थी इससे अपने शोधकार्य की दिशा ग्रहण कर सकता है और अध्यवसाय पूर्वक प्रयत्न करके उस छूटे या अधूरे अंश को अपने शोधकार्य का एक अङ्ग बनाकर कोई समाधान या निष्कर्ष प्रस्तुत कर सकता है।

४. परिशिष्ट – 'परिशिष्ट' शोध प्रबन्ध का अन्तिम और महत्त्वपूर्ण भाग है। इसके अन्तर्गत अधोलिखित सामग्री का समावेश किया जाना चाहिए-

(क) शोध के लिए स्वीकृत विषय के अन्तर्गत (यदि वह शास्त्रीय है तो) प्रयुक्त पारिभाषिक (अथवा शास्त्रीय) शब्दावली की अकारादिक्रम से व्यवस्थित प्रस्तुति और उसका लक्षण सहित विवेचन।

(ख) यदि शोधकार्य पाण्डुलिपि (यों) पर आधारित है तो उनके कुछ प्रमुख पृष्ठों की छायाप्रति।

---

६. 'मेघदूत' जैसे लघु गीतिकाव्य में पाठभेदों की भरमार है। अब तक उसकी सत्तर से अधिक संस्कृत टीकाओं का उल्लेख मिला है। प्रायः डेढ़ दर्जन ही टीकाएँ प्रकाशित हैं। मेघदूत के मूलपाठ निर्धारण हेतु अधिकांश टीकाओं की उपलब्धता आवश्यक है। ये टीकाएँ पाण्डु-ग्रन्थों के रूप में जहाँ-तहाँ ग्रन्थालयों में संरक्षित हैं। इस दिशा में प्रयत्न अपेक्षित है।

(ग) शोधकार्य से सम्बद्ध उपलब्ध चित्राङ्कनों (रेखाचित्रों, चित्रों, मानचित्रों) की छायाप्रति।

(घ) शोधकार्य में यदि विषय विशेषज्ञ विद्वानों से पत्र व्यवहार हुआ है तो उनकी भी छायाप्रति (याँ)। साक्षात्कार में पूछे गये प्रश्न अथवा तैयार प्रश्नावली।

(ङ) यदि शोध प्रबन्ध में बड़े नामों (ग्रन्थ, व्यक्ति और संस्था) का व्यवहार हुआ है तो उसके लिए प्रयुक्त संक्षिप्त रूप हेतु सङ्केताक्षरों का प्रदर्शन। (यदि यह प्रबन्ध के आरम्भ में दिया जाय तो समीचीनतया उपयोगी होगा)।

उदाहणार्थ - प्राच्य विद्या शोध संस्थान = प्रा.वि.शो. सं.।

अभिज्ञान शाकुन्लतम् = अ.शा.।

मोहनदास करमचन्द गांधी = मो.दा.क.च.गां.। इत्यादि।

यदि संकेताक्षर सूची कई भाषाओं में हो तो शोध विषय की भाषा के अनुसार प्राथमिकतापूर्वक उसका संयोजन। यथा- संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी...।

अंग्रेजी, हिन्दी, संस्कृत...।

हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी...।

(च) ग्रन्थ सूची प्रस्तुतीकरण।

यदि शोधकार्य किसी ग्रन्थ विशेष (अथवा, कई ग्रन्थों) पर आधारित है तो सूची को, 'आधर ग्रन्थ' और 'सहायक ग्रन्थ'- इन दो भागों में विभक्त कर देना चाहिए। आधार ग्रन्थ के अन्तर्गत गृहीत ग्रन्थ के प्रामाणिक संस्करणों का प्रयोग और उल्लेख करना चाहिए। सूची निर्माण के लिए अकारादि क्रम का अनुवर्तन करना चाहिए (यथा, 'अ' से आरम्भ कर 'ह' तक (From A To Z)। सूची ग्रन्थ नाम अथवा ग्रन्थकर्ता/सम्पादक के नाम से निर्मित की जा सकती है। ग्रन्थ सूची में शोध प्रबन्ध में प्रदत्त सन्दर्भों के अन्तर्गत उल्लिखित ग्रन्थों को ही स्थान देना चाहिए किन्तु जिनका प्रसङ्गवश अध्ययन किया गया हो किन्तु उनसे उद्धरण न गृहीत हों, ऐसे भी ग्रन्थ दिये जा सकते हैं। ग्रन्थ नाम, लेखक/सम्पादक, प्रकाशक (पता सहित) और प्रकाशन वर्ष अथवा संस्करण संख्या अवश्य दी जानी चाहिए। यथा-

बाणभट्ट का साहित्यिक अनुशीलन : डॉ. अमरनाथ पाण्डेय, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, १९७४ ई.।

रुय्यककृत अलङ्कारसर्वस्व : सम्पादक एवं व्याख्याकार - डॉ. रेवा प्रसाद द्विवेदी, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, चतुर्थ संस्करण, १९९८ ई.।

शोध-सामग्री का सङ्कलन और उसमें आने वाली कठिनाइयाँ

अर्ह उपाधि अर्जित करने मात्र से ही कोई व्यक्ति शोध का अधिकारी नहीं हो जाता। उपाधि न प्राप्त करने पर भी जिज्ञासु जन अनुसंधान में प्रवृत्त होते देखे जाते हैं। वस्तुतः किसी समस्या का समाधान ही अनुसंधान है- 'अनुसंधानं नाम समस्यायाः समाधनमेव।' अतः प्रतिभाशाली प्रज्ञावान् जिज्ञासु शोध का अधिकारी होता है। ऐसे व्यक्ति में शोधविषयक अभिरुचि और जिज्ञासा के साथ ही व्यापक ज्ञान, धैर्य और परिस्थितियों से संघर्ष करने की क्षमता होती है। शोध का प्रथम सोपान शोध विषय का निर्धारण होता है। यह विषय शोधार्थी द्वारा सर्वथा स्वीकृत होना चाहिए। इस स्वीकृति में उसकी शोध विषयक अभिरुचि प्रधान होती है। प्रायः देखा जाता है कि यदि विषय शोधार्थी की अभिरुचि का नहीं है अथवा उसकी अपनी विशेषज्ञता के अनुरूप नहीं है तो उसका मन उस शोधकार्य में नहीं लगता और उसे सफलता भी नहीं मिलती। या तो वह उसे छोड़ देता है अथवा यदि किसी तरह पूर्ण भी हुआ तो उसमें उत्कृष्टता नहीं रहती। ऐसी स्थिति में शोधार्थी के समक्ष अनेक विध सङ्कट उपस्थित होते हैं। शोध विषय ऐसा होना चाहिए जिसमें शोधार्थी उत्साहपूर्वक सुगमतया प्रविष्ट होकर उसकी गहराई में पैठ सके। उत्साह के अभाव में अध्यवसाय नहीं होता और इन दोनों के अभाव में शोध सामग्री का सम्यक् सङ्कलन नहीं होता।

शोध सामग्री के सङ्कलन की प्रक्रिया - शोधकार्य की पूर्णता और उत्कृष्ट शोध प्रबन्ध के निर्माण के लिए शोध विषय से सम्बद्ध यथेष्ट अद्यतन उपलब्ध सामग्री का सङ्कलन अनिवार्य होता है। सङ्कलित शोध सामग्री का विवेकपूर्वक यथोचित सन्निवेश ही शोध प्रबन्ध का आकार ग्रहण करता है। सामग्री सङ्कलन के विविध स्रोत इस प्रकार हैं-

१. ग्रन्थालय - शोधकार्य ज्ञान की व्यापकता और उसकी यथामति ग्राहकता पर पर्याप्ततः निर्भर है। इसमें सर्वाधिक सहायक ग्रन्थ हैं। अतः ग्रन्थालय शोध सामग्री के प्रमुख स्रोत हैं। ग्रन्थालय प्रायः चार प्रकार के हैं-

(क) संस्थागत ग्रन्थालय - विद्यालयों, महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों और संस्थानों के अपने विशिष्ट पुस्तकालय। वस्तुतः किसी भी शैक्षणिक संस्था का मस्तिष्क पुस्तकालय होता है जिसके बिना उस शिक्षण संस्था की अध्ययन, अध्यापन और शोध विषयक गतिविधियाँ सुचारुरूप से सञ्चालित नहीं हो पातीं। विद्यालय (उच्च माध्यमिक) स्तरीय पुस्तकालय सामान्य होते हैं किन्तु उच्च शिक्षा संस्थानों के पुस्तकालयों का स्तर भी ऊँचा होता है। परास्नातक महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों के पुस्तकालय दो कोटि के होते हैं-

(अ) विभागीय ग्रन्थालय - इस कोटि के पुस्तकालय में विशेषतया उसी विभाग से सम्बद्ध पाठ्य पुस्तकें तथा सन्दर्भ ग्रन्थ होते हैं।

(ब) केन्द्रीय ग्रन्थालय - यह विशाल ग्रन्थागार होता है जिसमें विश्वविद्यालयों में पढ़ाये जाने वाले समस्त विषयों से सम्बद्ध पाठ्य पुस्तकें, सन्दर्भ ग्रन्थ और शोधोपयोगी विशिष्ट ग्रन्थ होते हैं। यहाँ अनेक भाषाओं में निबद्ध पाठ्य सामग्री तथा राष्ट्रिय एवं अन्ताराष्ट्रिय स्तर की सूचनाएँ, जो ज्ञान-संवर्धन में सहायक होती हैं, प्रदान करने वाले ग्रन्थ भी होते हैं। अनेक प्रकार की पत्र-पत्रिकाओं के अतिरिक्त, उस विश्वविद्यालय में हुए शोधकार्यों के शोध प्रबन्ध भी यहाँ संग्रहीत होते हैं। विश्वविद्यालय के स्वरूप के अनुसार ही केन्द्रीय ग्रन्थालय में अधिकतम पुस्तक सङ्ग्रहीत होती हैं।

(ख) सार्वजनिक ग्रन्थालय - नगरों और बड़े कस्बों या गाँवों में सार्वजनिक पुस्तकालय निजी संस्थाओं अथवा शासकीय अनुदानों के आधापर सञ्चालित हैं। कोई भी नागरिक कुछ मान्य नियमों के अधीन ऐसे पुस्तकालयों का सदस्य बन सकता है। ऐसे पुस्तकालयों में संग्रहीत पुस्तकें प्रायः सामान्य पाठकों के उपयोग लायक होती हैं। ऐसे कुछ पुस्तकालयों में उच्चस्तरीय ग्रन्थ भी रखे जाते हैं। अन्य पुस्तकालयों की भाँति यहाँ भी वाचनालय की सुविधा होती हे।

(ग) राष्ट्रिय ग्रन्थालय (एवं अभिलेखागार) - राष्ट्र स्तर पर कुछ महत्त्वपूर्ण स्थानों में ऐसे पुस्तकालयों की स्थापना शासन स्तर पर की जाती है जिनमें केवल स्वदेश ही नहीं अपितु विदेशों में भी उपलब्ध महत्त्वपूर्ण एवं उच्चस्तरीय प्रकाशनों का एक वैविध्यपूर्ण बृहत्सङ्कलन होता है। ऐसे पुस्तकालय बहुआयामी होते हैं और इनमें अनेक स्तरीय विभाग-अनुभाग होते हैं। यहाँ प्रत्येक स्तर के पाठकों की ज्ञानपिपासा की तृप्ति के लिए पाठ्य सामग्री उपलब्ध कराने की चेष्टा की जाती है। भारतवर्ष के दो राष्ट्रिय पुस्तकालय उल्लेखनीय हैं- प्रथम, नयी दिल्ली स्थित और द्वितीय, कोलकाता स्थित।

राष्ट्रिय पुस्तकालय में संस्कृत विषय का एक विभाग है जिसके अन्तर्गत पालि और प्राकृत के अनुभाग भी हैं। संस्कृत विषय के अन्तर्गत अति प्राचीन वैदिक वाङ्मय से लेकर अधुनातन लौकिक संस्कृत वाङ्मय के ग्रन्थ सङ्ग्रहीत हैं। राष्ट्रिय पुस्तकालयों के अतिरिक्त प्रदेश और जिला स्तर पर मुख्यालयों में शासकीय पुस्तकालय और अभिलेखागार होते हैं। राष्ट्रिय अभिलेखागार नयी दिल्ली में है। इनके अतिरिक्त केन्द्रीय संसद और प्रान्तीय विधान सभाओं के भी ग्रन्थागार हैं।

(घ) व्यक्तिगत ग्रन्थालय - सांस्थानिक, सार्वजनिक और राष्ट्रिय पुस्तकालयों के अतिरिक्त प्रायः सर्वत्र विशिष्ट व्यक्तियों के निजी पुस्तकालय भी हैं/ होते हैं। सामान्यतः प्रत्येक पढ़ने-पढ़ाने वाले के पास पुस्तकों का थोड़ा बहुत संग्रह होता ही है। किन्तु पुस्तकों के प्रति विशेष अभिरुचि रखने वाले अध्ययनशील व्यक्तियों, प्राध्यापकों, साहित्यकारों, लेखकों, कलाविदों के द्वारा पुस्तकें संग्रहीत कर अपने आवासों अथवा पृथग् भवनों में पुस्तकालय बनाया जाता है। व्यक्तिगत ग्रन्थालय उस व्यक्ति की अपनी शौक या रुचि का परिणाम होता है। वह जिस विषय का विशेषज्ञ है अथवा जिन विषयों के प्रति उसकी अभिरुचि है, उसी प्रकार की पुस्तकें उसके पुस्तकालयों में होंगी। ये पुस्तकें मुद्रित या हस्तलिखित या दोनों प्रकार की हो सकती हैं।

इन ग्रन्थालयों के अतिरिक्त धार्मिक संस्थाओं/मन्दिरों के भी पुस्तकालय हैं जिनमें प्रायः धार्मिक पुस्तकें ही संग्रहीत होती हैं। यथा- श्रीरामकृष्णमिशन अथवा श्रीअरविन्दसोसायटी के पुस्तकालय। कुछ ग्रन्थालयों की प्रसिद्धि प्राचीन ग्रन्थों के सङ्कलन के लिए है तो कुछ नवीन ग्रन्थों के सङ्कलन के लिए विख्यात हैं।

पाण्डुलिपि ग्रन्थालयों का अपना एक अलग प्रकार है जिसका विवरण अगले चतुर्थ अध्याय में देय है।

२. अभिलेखागार - शोध सामग्री के सङ्कलन हेतु जिस प्रकार ग्रन्थालयों का महत्त्व है, उसी प्रकार, अभिलेखागारों का भी महत्त्व है। अभिलेखागारों में भी विभिन्न विषयों (यथा- ऐतिहासिक, भौगोलिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, साहित्यिक आदि) के उपलब्ध प्राचीन एवं आधुनिक अभिलेख अत्यन्त सुव्यवस्थित ढंग से संरक्षित होते हैं। इनमें पुरातात्त्विक महत्त्व के भी अभिलेख होते हैं। प्रायः इन अभिलेखागारों की स्थापना एवं सञ्चालन शासकीय स्तर से होता है फिर भी कुछ भारतीय रजवाड़े अपने पूर्वजों की स्मृति में ऐसे अभिलेखागारों की स्थापना किये हुए हैं जहाँ उनके शासनकाल के महत्त्वपूर्ण दस्तावेज और अन्य सामग्रियाँ रखी हुई हैं।

भारतीय इतिहास, संस्कृति, साहित्य और कला सम्बन्धी और अभिलेखागार विदेशों (विशेषतया ब्रिटेन और जर्मनी) में भी स्थापित हैं।

३. व्यक्तिगत साक्षात्कार - विषय विशेषज्ञों और अनुभवी विद्वानों के साक्षात्कार द्वारा भी शोध सामग्री का सङ्कलन किया जाता है। यह साक्षात्कार स्वयं शोधार्थी अथवा उसके द्वारा प्रेषित प्रतिनिधि के द्वारा लिया जा सकता है। उन विद्वानों के अनुभव, उनके विचार और उनका कर्तृत्व शोधकार्य में पर्याप्त सहायक होता है

और ऐसे विद्वानों द्वारा व्यक्तिगत रूप से व्यक्त किये गये विचार तथा दी गयी जानकारी का स्वतः प्रामाण्य माना जाता है।

शोध सामग्री का प्राथमिक स्रोत

शोध सामग्री के प्राथमिक स्रोत (Primary Source) के रूप में शोध शीर्षक (विषय) से सम्बद्ध मूल ग्रन्थ और आधार ग्रन्थ लिये जा सकते हैं। ये ग्रन्थ मुद्रित (प्रकाशित) अथवा हस्तलेखरूप (अप्रकाशित) में हो सकते हैं। प्राथमिक स्रोत का यह पहला प्रकार है।

प्राथमिक स्रोत का दूसरा प्रकार है विशेष विशेषज्ञ अथवा उस क्षेत्र के अनुभवी विद्वानों का साक्षात्कार। शोध विषय के प्रमुख बिन्दुओं के आधार पर तैयार की गयी प्रश्नावली के आधार पर उन विद्वानों से प्राप्त उत्तर प्राथमिक स्रोत के रूप में गृहीत किये जा सकते हैं। ये उत्तर लिखित या मौखिक रूप में हो सकते हैं। मौखिक उत्तरों का ध्वन्यङ्कन कर लेना चाहिए ताकि उनकी प्रामाणिकता बनी रहे और शोधार्थी इस विषय में किसी आक्षेप से बचा रहे। भाषा और साहित्य विषयक अनुसन्धान के सन्दर्भ में मूलग्रन्थ के कठिन या अस्पष्ट स्थलों का स्पष्टीकरण या विवेचन भी साक्षात्कार पद्धति से प्राप्त किया जा सकता है। सम्प्रति इलेक्ट्रानिक तंत्र भी प्राथमिक स्रोत के रूप में प्रयुक्त हो रहे हैं।

शोध सामग्री का द्वितीयक स्रोत – मूल ग्रन्थ अथवा आधार ग्रन्थ के अतिरिक्त शोध सामग्री का सङ्कलन बहुधा द्वितीयक स्रोत से भी किया जाता है। यदि शोधार्थी अपनी विषयगत सामग्री का व्यापक सर्वेक्षण करता है तो सम्भव है कि उसे पूर्व में किये गये तद्विषयक शोधों, शोध लेखों अथवा शोध प्रबन्धों का ज्ञान हो जाय। ऐसी सामग्री द्वितीयक स्रोत (Secondary Source) के रूप में परिगणित की जाती है। इनके अतिरिक्त मूल ग्रन्थ की टीकाएँ, प्राचीन एवं समसामयिक पत्र-पत्रिकाओं में मुद्रित निबन्ध आदि द्वितीयक विषय स्रोत के रूप में प्रयुक्त होते हैं। द्वितीयक स्रोतों में उपलब्ध सामग्री की प्रामाणिकता की जाँच (पुष्टि) अनुसन्धाता को अवश्य कर लेनी चाहिए। हो सकता है कि शोध-प्रबन्धों अथवा निबन्धों के लेखक ने भी द्वितीयक स्रोतों से ही तथ्य तथा विवरण लिये हों और उनके उद्धरणों में या तो लेखकीय त्रुटि हो अथवा मौलिक रूप से ही त्रुटि हो। अतः उन तथ्यों, विवरणों और उद्धरणों को मूल ग्रन्थ के एक से अधिक संस्करणों के आधर पर जाँच कर प्रामाणिकता की पुष्टि अवश्य कर लेनी चाहिए।

शोध सामग्री विषयक कठिनाइयाँ

शोध विषय स्वीकृत हो जाने के पश्चात् शोधार्थी के समक्ष सर्वप्रमुख समस्या (कठिनाई) होती है शोध सामग्री की उपलब्धता। गम्भीर विषयों पर शोध के लिए सामग्रियाँ प्रायः कम ही मिलती हैं। योग्य शोधार्थी स्वतः स्फुरित प्रतिभा और परिकल्पनाओं के आधार पर उपलब्ध तथ्यों का उपबृंहण तो करता ही है साथ ही, अपने आदरणीय निर्देशक एवं अन्य विषय विशेषज्ञों की भी सहायता लेता है। कभी-कभी कोई आवश्यक महत्त्वपूर्ण शोध सामग्री अति दूरस्थ किसी ग्रन्थागार, संग्रहालय अथवा किसी संस्था या व्यक्ति के अधिकार में होती है। पत्रादि माध्यमों से सम्पर्क करने पर न तो वहाँ से कोई उत्तर मिलता है और न ही सामग्री उपलब्ध होती है। शोध प्रक्रिया में यह एक विषम परिस्थिति होती है। एक सच्चे शोधार्थी को विवश होकर उस स्थान की यात्रा करनी पड़ती है। समय के साथ धन भी व्यय होता है। मरता क्या न करता? वहाँ पहुँचने पर भी सामग्री सुलभ हो ही जायेगी- यह भी एक समस्या शोचनीय रहती है। यदि अभीष्ट सामग्री किसी निजी संग्रह में है अथवा व्यक्ति विशेष के पास है, तो अधिकार पूर्वक माँगी भी नहीं जा सकती। देना, न देना- यह उस व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर करता है। यदि उस व्यक्ति में उदारता या सहानुभूति नहीं है तो शोधार्थी एक उचित सामग्री से वञ्चित रह जाता है। एक लगनशील शोधार्थी ही समझ सकता है कि किसी उपयोगी शोध सामग्री को प्राप्त करने के लिए क्या-क्या पापड़ बेलने पड़ते हैं! शोधार्थी को चाहिए कि उस अभीष्ट सामग्री की उपलब्धता के सम्बन्ध में अन्यत्र भी सम्भावनाएँ तलाश करे और उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करे। बड़े ग्रन्थागारों के अध्यक्ष इस प्रकार की दुर्लभ शोध सामग्रियाँ प्राप्त कराने में सहायक हो सकते हैं। यदि अभीष्ट सामग्री शोधार्थी की ज्ञात भाषा/लिपि से भिन्न भाषा/लिपि में है तो वह सामग्री उपलब्ध हो जाने पर भी उससे तथ्यों को ग्रहण करने में कठिनाई होती है। अनेक ग्रन्थालयों में भाषान्तरण/लिप्यन्तरण की व्यवस्था होती है। शोधार्थी शुल्क देकर यह कार्य करा सकता है अथवा, उस भाषा/लिपि के जानकार आप्त व्यक्ति से भी यह कार्य कराया जा सकता है।

रूढ़ संस्कार या विकृत मानसिकता के कारण भी शोध सामग्री की उपलब्धता में शोधार्थी को कठिनाई झेलनी पड़ती है। कुछ लोग धर्म के नाम पर अत्यन्त कट्टर या रूढ़ संस्कार वाले होते हैं। यदि उनके पास ऐसी कोई शोध सामग्री है जिसका सम्बन्ध किसी धर्म/सम्प्रदाय विशेष से है; यथा- पवित्र धार्मिक या आध्यात्मिक ग्रन्थ, तो वे उसका उपयोग करने के लिए देने को कौन कहे, देखने या स्पर्श करने

भी नहीं देते। उसका बेठन खोलकर दिखाना भी उनके लिए पाप होता है। ऐसी स्थिति में अन्यत्र अनुपलब्ध उस दुर्लभ कृति (Rare work) का शोध के लिए उपयोग नहीं हो पाता। धार्मिक संस्थाओं के ग्रन्थागारों में प्रायः ऐसी स्थिति लेखक ने सुनी है। अन्यत्र भी कुछ स्थानों पर ऐसी निषेधात्मक स्थिति सुनी जाती है। मत-मतान्तर अथवा धार्मिक विद्वेष के कारण ऐसी कठिनाई आना स्वाभाविक है। इसी प्रकार, कुछ विकृत मानसिकता वाले सज्जन शोध सामग्री पास में रहने पर भी केवल इसीलिए उपलब्ध नहीं कराते कि वह सामग्री मिल जाने पर शोधार्थी का शोधकार्य पूरा हो जायेगा, वह सफलता प्राप्त कर लेगा अथवा उसकी परिलब्धियाँ बढ़ जायेंगी।

कुछ लोभी स्वभाव के लोग स्वायत्त शोध सामग्री उपलब्ध कराने के लिए सौदेबाजी भी करने लगते हैं और शोधार्थी को परेशान करके अनुचित लाभ उठाने की चेष्टा करते हैं। यह भी आर्थिक लोभ विषयक कठिनाई कभी-कभी किसी शोधार्थी के समक्ष आ जाती हैं।

साक्षात्कार पद्धति से शोध सामग्री सङ्कलन करने में सम्बद्ध विषय विशेषज्ञ का हकलाना या अस्पष्ट उच्चारण करना भी शोधार्थी के लिए कठिनाई भरा होता है। विशेष विशेषज्ञ का अत्यन्त अस्पष्ट हस्तलेख भी एक कठिनाई उत्पन्न करता है। संस्कृत के अनेक प्राचीन पण्डितों के सम्बन्ध में लेखक का स्वयम् अनुभव है कि उनकी वाणी जितनी सुस्पष्ट और स्फीत थी, उनके हस्तलेख उतने ही अस्पष्ट है और दुरूह।

सङ्कलित सामग्री की प्रामाणिकता के परीक्षण में भी शोधार्थी को कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। विशेष रूप से ऐसी शोध सामग्री के सम्बन्ध में जो द्वितीयक स्रोत से सङ्कलित की जाती हैं। यह कठिनाई दो प्रकार की होती है- प्रथम उद्धरण सम्बन्धी और द्वितीय मूलपाठ सम्बन्धी।

यदि उद्धृत सामग्री का सन्दर्भ सही नहीं है तो उसके मूल स्रोत का पता नहीं चलेगा और फिर उसकी प्रामाणिकता सन्दिग्ध रह जायेगी। इस प्रकार, गलत अथवा, आधे अधूरे दिये गये सन्दर्भ इस तरह कठिनाई पैदा करते हैं। अतएव, जो भी उद्धरण दिया जाय, उसका समुचित सन्दर्भ अवश्य ही प्रस्तुत करना चाहिए। अपने शोध प्रबन्ध को उच्चस्तरीय बनाने, प्रामाणिक सिद्ध करने तथा उसकी गुणवत्ता को बढ़ाने के लिए अनिवार्यतः प्रमाणपुष्ट उद्धरण देना चाहिए। उदाहरण के लिए- "असतो मा सद्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय।।"- यह उद्धरण इतना प्रसिद्ध है कि प्रायः संस्कृत-अध्येताओं के जिह्वाग्र पर रहता है। यदि किसी शोधार्थी ने

अपने शोध प्रबन्ध में उपयुक्त अवसर पर इसे उद्धृत कर दिया किन्तु सही सन्दर्भ नहीं दिया या सन्दर्भरहित ही इसका उल्लेख कर दिया तो शोध प्रविधि की मान्यता की दृष्टि से इसकी प्रामाणिकता तो सन्दिग्ध हुई ही, शोध प्रबन्ध की गुणवत्ता में भी ह्रास हुआ। प्राचीन टीकाकारों की तरह, यदि उसने भी 'इति श्रुतिः', 'इति वेदवचनम्' 'इति ब्राह्मण/उपनिषद् ग्रन्थे'- ऐसा कुछ लिख दिया, तब बात पूरी तरह नहीं बनती। उपर्युक्त उद्धरण का समुचित सन्दर्भ है- छान्दोग्योपनिषद्, १/३। लोक में बहुप्रचलित अथवा हवा में तैरते हुए उद्धरणों का यों ही प्रयोग कर देना, शोध की दृष्टि से कथमपि अनुमन्य नहीं है। सही सन्दर्भ ज्ञात करने का सर्वात्मना प्रयत्न करना चाहिए।[७] इस प्रकार की कठिनाई का निवारण सुविज्ञ विद्वानों के परामर्श से अथवा प्राथमिक स्रोत रूप मूल ग्रन्थ की सम्भावना करके, उस ग्रन्थ को प्रयत्नपूर्वक प्राप्त करके करना चाहिए और द्वितीयक स्रोत से गृहीत सन्दर्भ का सत्यापन तो अवश्य ही करना चाहिए। साहित्य में प्रयुक्त अन्य (शास्त्रीय) विषयों के उद्धरणों के सन्दर्भों का भी सत्यापन तत्तद् ग्रन्थों का अनुशीलन करके करना चाहिए। इसमें श्रम और धैर्य का अवलम्बन करना चाहिए और कठिनाइयों से उद्विग्न होकर पलायन नहीं करना चाहिए। दृढ़ निश्चयी होकर सत्य उन्मीलन करना, लक्ष्य तक पहुँचना एक सच्चे अन्वेषक का धर्म है।

मूलपाठ निर्धारण सम्बन्ध कठिनाई - यह कठिनाई संस्कृत साहित्य में शोध करने वालों के समक्ष प्रायः आती है। वैदिक वाङ्मय को छोड़कर शेष संस्कृत (लौकिक) वाङ्मय में पाठान्तरों की गम्भीर समस्या विद्यमान है।[८] शोधार्थियों के समक्ष मूल या शुद्ध पाठ (महाकवि या लेखक द्वारा प्रयुक्त स्वलिखित पाठ) का निर्धारण करना एक गम्भीर समस्या है। शोधार्थी के लिए यह समझ पाना अत्यन्त दुष्कर होता है कि मूल पाठ कौन सा होगा। क्योंकि एक पाठ के दो या उससे भी अधिक पाठान्तर मिलते हैं जो पद रचना में प्रायः मिलते-जुलते हैं किन्तु भिन्नार्थक होते हैं। उदाहरण के लिए यहाँ मेघदूत (महाकवि कालिदास कृत दूतकाव्य) के प्रारम्भ में ही पाठान्तर की एक समस्या विद्यमान है जिसका ऐकान्तिक समाधान आज तक नहीं हो पाया। वहाँ दो पाठ मिलते हैं- 'आषाढस्य **प्रथम**दिवसे' और

---

७. संस्कृत जगत् में अनेक उक्तियाँ या श्लोक बहु प्रचलित हैं किन्तु उनका मूल स्रोत प्रयत्न करने पर भी ज्ञात नहीं होता। इसका दो कारण है- संस्कृत वाङ्मय का अति विशाल होना और प्राचीनकाल की श्रुतिपरम्परा।

८. इस प्रसङ्ग पर अगले अध्याय में विमर्श करणीय है।

'आषाढस्य प्रशमदिवसे।' अब समस्या है कि मूलपाठ 'प्रथम' है अथवा 'प्रशम'। यहाँ विवाद केवल एक वर्ण को लेकर है- 'थ' या 'श'? दोनों वर्णों की लिखावट में बहुत कुछ साम्य और सामीप्य है किन्तु दोनों शब्दों के अर्थ में महान् अन्तर है। मूलपाठ निर्धारण के सिद्धान्तों की जानकारी के बावजूद किसी एक पाठ के पक्ष में अन्तिम निर्णय आज तक नहीं हो सका है। अपने-अपने तर्कों पर दृढ़ता से कायम विद्वानों के दोनों पक्ष आज भी समानान्तर चल रहे हैं और मतभेद नहीं सुलझ रहा है।

प्रश्नावली निर्माण और प्रयोग विषयक कठिनाई - आधुनिक शोध प्रविधि के अन्तर्गत किन्हीं शोध विषयों में प्रश्नावली के आधार पर शोध निष्कर्ष प्रस्तुत किये जाते हैं। समुचित प्रश्नावली का निर्माण एक महत्त्वपूर्ण समस्या है। यह कोई सहज या सामान्य प्रक्रिया नहीं है। प्रश्नावली का निर्माण करने के लिए विषय का व्यापक ज्ञान और उत्प्रेक्षा (सम्भावना) की प्रतिभा होनी चाहिए। अतः प्रश्नावली का निर्माण अनुभवी विषय विशेषज्ञों के परामर्श से ही करना चाहिए। प्रश्नावली का उत्तर भी विषय का सम्यग् ज्ञान रखने वाले व्यक्ति से ही लेना चाहिए न कि विषय से असम्बद्ध अथवा सामान्य व्यक्ति से। यदि सामान्य व्यक्ति अथवा विषय से असम्बद्ध व्यक्तियों को प्रश्नावली वितरित की जायेगी तो दो स्थिति होगी। या तो पूरी प्रश्नावली का उत्तर नहीं मिलेगा अथवा यदि मिलेगा भी तो वह भ्रामक, तथ्यरहित और त्रुटिपूर्ण होगा। ऐसी स्थिति में शोध प्रविधि के आश्रयण से उन उत्तरों का तुलनात्मक विश्लेषण करके जो निष्कर्ष निकाला जायेगा उसमें केवल आँकड़ेबाजी रहेगी, निष्कर्ष तो विषयस्तर पर भ्रामक और अशुद्ध होगा। इस प्रकार, यह शोधकार्य असफल होगा और उसका उद्देश्य पूरा नहीं होगा। अतः, इस शोध प्रक्रिया में विषय विशेषज्ञों की बहुल उपलब्धता सम्बन्धी कठिनाई शोधार्थी को झेलनी पड़ती है क्योंकि दो-चार व्यक्तियों के उत्तरों से कोई निश्चित और समुचित निष्कर्ष निकलना असम्भव ही है।

शोध प्रबन्ध की लेखन विधि (शैली) - शोध प्रबन्ध को उत्कृष्ट बनाने के लिए उसकी लेखन शैली का अत्यन्त महत्त्व होता है। अपने द्वारा किये गये शोधकार्य को प्रभावशाली रीति से प्रस्तुत करने की इच्छा सभी शोधार्थियों को होती है। अतः शोध प्रबन्ध के व्यवस्थित लेखन पर पर्याप्त ध्यान देना चाहिए। शोध प्रबन्ध की भाषा, विषय की गरिमा के अनुरूप होनी चाहिए। कहने का तात्पर्य यह कि उसे चलती-फिरती या बाजारू नहीं होनी चाहिए। साहित्यिक विषयों की भाषा व्याकरणसम्मत प्रौढ़ होने के साथ ही लेखन भी सपाट-सीधा, रूखा-सूखा न

होकर, साहित्यिक शैली में होना चाहिए। शोध प्रबन्ध में लोक प्रचलित (चलतू) शब्दों अथवा अखबारी भाषा के प्रयोग से सर्वथा बचना चाहिए। इस प्रकार की पदावली और भाषा, शोध प्रबन्ध के गौरव को तो क्षीण करती ही है, उसमें प्रभावोत्पादकता भी नहीं आ पाती। साथ ही, ऐसे शब्द प्रयोगों से शोधार्थी की अनभिज्ञता, विषय के प्रति उपेक्षा और भाषा में उसका हलकापन प्रदर्शित होता है। शोध प्रबन्धों में तथ्यों का प्रतिपादन सप्रमाण होना चाहिए और कहीं भी कुतर्क का प्रयोग या खींच-तान नहीं करनी चाहिए। परिकल्पनाएँ तो उनका आधार होनी चाहिए। मात्र कल्पना की उड़ान से शोधकार्य पूरे नहीं होते- यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। सङ्कलित शोध सामग्री के आधार पर अपना अभीष्ट निष्कर्ष निकालने में मान्य और विदित तथ्यों को अन्यथा प्रकार से (उलट-पुलट या तोड़ मरोड़ कर) नहीं प्रस्तुत करना चाहिए। भाषा में प्रवाह होना चाहिए और उसमें सुबोधमयता (क्लिष्ट पद विन्यास विरहत्व) के साथ ही विषय को बोधगम्य बनाने की क्षमता भी होनी चाहिए। पाण्डित्य प्रदर्शन के लिए भाषा में कृत्रिम रूप से शब्दाडम्बर नहीं लाना चाहिए। वाक्य विन्यास में यह ध्यान रखना चाहिए कि पूर्वापर की सङ्गति हो, वाक्य अतिदीर्घकाय न हों और सुघटित हों। शोध प्रबन्ध के टङ्कण में होने वाली त्रुटियों का परिमार्जन अवश्य होना चाहिए।

शोध प्रबन्ध के लेखन में विषय सूची/शोध प्रारूप में प्रदर्शित विषयानुक्रम का सर्वथा पालन करना चाहिए। प्रतिपाद्य को सदैव सुव्यवस्थित रूप में उपस्थापित करना चाहिए तथा असम्बद्ध वर्णन या विवेचन से बचना चाहिए। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध टीकाकार सहृदयशिरोमणि कोलाचल मल्लिनाथ सूरि का यह आदर्श वाक्य अवश्य ही सदैव स्मरण रखना चाहिए- "नामूलं लिख्यते किञ्चिन्नानपेक्षितमुच्यते" (अर्थात्, निराधार कुछ भी नहीं लिखा जा रहा है और न ही अनपेक्षित कुछ कहा जा रहा है)।

शोध प्रबन्ध में उद्धरणों और सन्दर्भों की योजना प्रायः पाद टिप्पणियों के रूप में की जाती है। कभी-कभी विवेच्य वस्तु के प्रतिपादन में मुख्यधारा से अलग हटकर भी कुछ तथ्य अथवा स्वकीय मन्तव्य प्रकाशित (अभिव्यक्त) करने के लिए भी पाद टिप्पणियों का आश्रय लिया जाता है। इस प्रकार, शोध प्रबन्ध में पाद टिप्पणियों का अतीव महत्त्व है। अतः शोध प्रबन्ध में पाद टिप्पणियों की योजना/प्रस्तुति अत्यन्त सावधानीपूर्वक, दक्षतापूर्वक और वैज्ञानिक रीति से करनी चाहिए। पाद टिप्पणियों की संख्या प्रत्येक पृष्ठ में सन्तुलित होनी चाहिए। कभी-कभी लम्बे

उद्धरणों के कारण पृष्ठ का तीन चौथाई भाग पाद टिप्पणियों से भर जाता है। किन्तु ऐसा सर्वत्र नहीं होना चाहिए। पाद टिप्पणियों के अङ्कन की प्रायः दो विधि प्रचलित है–

प्रथम विधि में, प्रत्येक पृष्ठ के उद्धरण से सम्बद्ध सन्दर्भ उसी पृष्ठ पर पाद टिप्पणी के रूप में प्रस्तुत कर दिये जाते हैं।

द्वितीय विधि में सम्पूर्ण अध्याय या परिच्छेद के उद्धरणों से सम्बद्ध सन्दर्भ, उस अध्याय/परिच्छेद की समाप्ति पर दिये जाते हैं। प्रति पृष्ठ टिप्पणियों का अङ्कन पाठकों की दृष्टि से अधिक सुविधाजनक होता है।

पाद टिप्पणियों के क्रमाङ्क के लेखन की भी दो पद्धति है। प्रथम पद्धति में प्रत्येक पृष्ठ की पाद टिप्पणी का क्रमाङ्क एक से आरम्भ होता है और उस पृष्ठ पर आये उद्धरणों की संख्या पूरी करके समाप्त हो जाता हे। अगले पृष्ठ पर पुनः एक से आरम्भ होता है और प्रत्येक पृष्ठ पर यह परम्परा चलती रहती है। द्वितीय पद्धति में, पूरे अध्याय की क्रम सङ्ख्या एक से आरम्भ होकर सातत्य में क्रमशः बढ़ती रहती है और पूरे अध्याय में जितने सन्दर्भ प्रयुक्त होते हैं, उसी अन्तिम संख्या पर पहुँच जाती है। पाद टिप्पणी का यह क्रमाङ्क संयोजन टङ्कण की दृष्टि से सुविधाजनक होता है।

उदाहरण– **प्रथम पद्धति**

पृ. १	पृ. २	पृ. ३	पृ. ४	पृ. ५	.....क्रमशः अंत तक
१	१	१	१	१ ..	
२	२	२	२	२	
३	३	३	३	३	
४	४		४	४	
	५		५		इत्यादि।
	६		६		
	७				

द्वितीय पद्धति

पृ. १	पृ. २	पृ. ३	पृ. ४	पृ. ५	.....क्रमशः अंत तक
१	६	१०	१५	१८	
२	७	११	१६	१९	
३	८	१२	१७	२०	
४	९	१३		२१	इत्यादि।
५		१४			

प्रथम पद्धति में सन्दर्भों की पाद टिप्पणियाँ उसी पृष्ठ पर अङ्कित हो जाती हैं किन्तु द्वितीय पद्धति में इसका विकल्प भी प्रचलित है। सन्दर्भों की पाद टिप्पणियाँ क्रमशः उन्हीं पृष्ठों पर भी अङ्कित की जा सकती हैं अथवा, ऐसा न करके अध्याय के अन्त में समूचे सन्दर्भों की पाद टिप्पणियाँ दे दी जाती हैं।

पाद टिप्पणियों में प्रमाणों (सन्दर्भ ग्रन्थादिकों) का लेखन करने में उन ग्रन्थों का उल्लेख करने में भी सावधानी रखनी चाहिए। उदाहरण के रूप में, श्रीमद्भगवद्गीता, पृ. xyz' न लिखकर इस प्रकार लिखना समीचीन होगा– 'श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय ABC, श्लोक GH' अथवा, 'श्रीमद्भगवद्गीता, ABC, GH।' (ABC = अध्याय संख्या, GH = श्लोक संख्या) अन्य भी इस प्रकार के ग्रन्थों (यथा, रामायण, महाभारत, रघुवंश, अभि. शाकुन्तल आदि) में यही पद्धति अपनानी चाहिए। इनसे इतर (गद्यात्मक) ग्रन्थों का उल्लेख इस प्रकार करना चाहिए– 'बाणभट्ट का साहित्यिक अनुशीलन', पृ. XYZ और ग्रन्थ का पूर्ण विवरण परिशिष्ट के अन्तर्गत ग्रन्थ सूची में अवश्य देना चाहिए।

शोध प्रबन्ध का टङ्कण

शोध प्रबन्ध के लेखन के पश्चात् उसका टङ्कण सुयोग्य और कुशल टङ्कक से कराना चाहिए। जिस भाषा में शोध प्रबन्ध लिखा गया है, यदि टङ्कक उस भाषा का जानकार भी हो तो सोने में सुगन्ध हो जाती है। ऐसा होने पर टङ्कणगत अशुद्धियों की सम्भावना न्यूनता की ओर जाती है। पहले के समय में मैनुअल टाइपराइटर्स हुआ करते थे और बाद में इलेक्ट्रानिक टाइपराइटर्स चलन में आये। इन पर कार्बन पेपर की सहायता से चार से पाँच पेपर शीट्स पर टाइप एक साथ हो जाता था किन्तु नीचे के कागजों पर लिखावट साफ नहीं आ पाती थी चाहे रिबन और कार्बन कितना भी बढ़िया और नया ही क्यों न हो। अशुद्धियों का संशोधन भी परिश्रमपूर्वक रबर आदि का प्रयोग करके सावधानी से करना पड़ता था क्योंकि प्रयुक्त कागज पतला होता था और उनके फटने का भय रहता था। किन्तु, अब सङ्गणक (Computer) के आविष्कार से यह टङ्कणकार्य अति सुगम हो गया है। टङ्कण में अक्षरों का आकार अपनी पसन्द से चाहे जितना छोटा-बड़ा किया जा सकता है। अतः, शीर्षक, उपशीर्षक, मूल लेख और टिप्पणियों को भिन्न-भिन्न आकार के अक्षरों में मुद्रित करने की सुविधा से मुद्रण स्पष्ट और आकर्षक होता है। साथ ही, अशुद्धियों का संशोधन भी सरलता और उचित रीति से हो जाता है।

शोध प्रबन्ध का टङ्कण कराने में यह अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि शोध

प्रबन्ध की पृष्ठ संख्या अनावश्यक रूप से न बढ़ायी जाय। इससे शोध प्रबन्ध का स्वरूप तो विकृत होता ही है, शोधार्थी को भी हानियाँ उठानी पड़ती हैं (मुख्यतः आर्थिक हानि)। कोई-कोई व्यावसायिक टङ्कक शोधार्थी की अनुभवहीनता का लाभ उठाते हुए शब्दों और पङ्क्तियों के बीच की दूरी मानक के विहित अनुपात से अधिक रखते हैं। परिणामतः जितनी लेख सामग्री एक पृष्ठ में टङ्कित होनी चाहिए, वह डेढ़ या दो पृष्ठों में चली जाती है। इससे शोध प्रबन्ध का स्वरूप बिगड़ता है और ग्रन्थ की पृष्ठ संख्या बढ़ती है।

प्रबन्ध-सज्जा – किसी भी वस्तु को आकर्षक रूप में प्रस्तुत करना, उस व्यक्ति की अपनी अभिरुचि से होता है। अतः शोध प्रबन्ध को भी सुन्दर तथा आकर्षक बनाने के लिए उसे सुसज्जित बनाना चाहिए। टङ्कण और संशोधन हो जाने के पश्चात् शोध प्रबन्ध की मुद्रित सामग्री के पन्नों को ग्रन्थाकार तैयार कराना पड़ता है जिसे 'BINDING' (बाइंडिंग) कहते हैं। एक कुशल और अनुभवी बाइंडर स्वयं ही अच्छी बाइंडिंग करने के लिए सचेष्ट रहता है। आवरण का रंग आकर्षक और सौम्य होना चाहिए। यदि विषय सम्बद्ध हल्का चित्राङ्कन उस पर किया जा सके तो उसका आकर्षण और बढ़ जाता है। सामने के आवरण के शीर्ष भाग में स्पष्ट और बड़े अक्षरों में शोध विषय, उसके नीचे विश्वविद्यालय/शोध संस्थान का नाम, उसके नीचे शोधोपाधि का नाम (यथा- पीएच.डी., डी.फिल्., डी.लिट्., विद्यावारिधि, विद्या वाचस्पति आदि) मुद्रित होना चाहिए। आवरण के मध्य भाग में उस विश्वविद्यालय/ शोध संस्थान का 'मोनोग्राम' मुद्रित होना चाहिए। आवरण के दो-तिहाई भाग के नीचे बाँयीं ओर शोध निर्देशक/पर्यवेक्षक का नाम, उपाधि और पता तथा दाँयीं ओर शोधच्छात्र/अनुसन्धाता (-त्री) का नाम मुद्रित होना चाहिए। नीचे बीचोबीच सङ्काय, विभाग का नाम देकर प्रस्तुति वर्ष अङ्कित कराया जाना चाहिए। कहीं-कहीं उसके नीचे शोधच्छात्र की पञ्जीकरण संख्या भी होती है। शोध प्रबन्ध के अन्दर का प्रथम (मुख) पृष्ठ सफेद या मक्खनी रंग के मोटे कागज (Sheet) का हो और उपर्युक्त सभी विवरण यथावत् उस पर भी मुद्रित होने चाहिए। इसी प्रकार, प्रत्येक अध्याय का प्रथम पृष्ठ भी शीर्षक, उपशीर्षक बिन्दुवार अङ्कित हों और उसके ऊपर पारदर्शी विभाजक पन्ना (Seperation Sheet) लगा हो।

शोधप्रबन्ध के अन्त में उपसंहार के पश्चात् परिशिष्टों की योजना करनी चाहिए। इस प्रकार, शोध प्रबन्ध को सुव्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करना चाहिए।

पूर्वरूप संशोधन (Proof-Correction) – शोध प्रबन्ध अथवा, किसी ग्रन्थ

के मुद्रण/टङ्कण के पश्चात् प्रूफ (पूर्वरूप) संशोधन एक महत्त्वपूर्ण अनिवार्य कार्य है। एक गम्भीर शोधार्थी/लेखक इसके प्रति अप्रमादतः सचेष्ट रहता है। किन्तु मेरा यह अनुभव है (प्रायः यह अनुभव सभी शोध परीक्षकों का है) कि सामान्यतः शोधच्छात्र इस प्रक्रिया के प्रति लापरवाह या उदासीन रहते हैं। परिणामतः उनके शोध प्रबन्ध में टङ्कणगत त्रुटियों की भरमार रहती है। इसके कारण शोध प्रबन्ध की गुणवत्ता का स्तर निम्नता की ओर जाता है। परीक्षक न चाहते हुए भी अपने प्रतिवेदन में इस सम्बन्ध में टिप्पणी (Remark) लिख देता है।[९] टङ्कणगत अशुद्धियों के कारण भाषा का स्वरूप तो विकृत होता है, अर्थावबोध में भी बाधा उत्पन्न होती है।[१०] कभी-कभी तनिक सी लापरवाही से उस टङ्कित विकृत शब्द के कारण अर्थ ही उलट जाता है।[११] अतः प्रूफसंशोधन अनिवार्यतः और पूरे मनोयोग से साथ करना चाहिए। प्रूफ पढ़ना समाधि लगाने से कम नहीं है। भाषा ज्ञान के साथ ही प्रूफ पढ़ने वाले की चित्तवृत्ति भी नियंत्रित होनी चाहिए अर्थात् मनोयुक्तता/एकाग्रचित्तता अति आवश्यक है। प्रूफ को मूल से मिलाते हुए पढ़ना चाहिए किन्तु विवेकपूर्वक। हो सकता है कि मूल में भी क्वचित् त्रुटि रह गयी हो। टङ्कण के लिए लिखित सामग्री देने से पूर्व लिखी हुयी सामग्री को स्वयं अथवा जानकार किसी दूसरे से दुबारा अवश्य पढ़/पढ़वा लेना चाहिए। इस प्रकार, परिशोधित सामग्री को ही टङ्कण/मुद्रण हेतु देना चाहिए। किसी भी ग्रन्थ/प्रबन्ध अथवा लेखादि का प्रूफ कम से कम तीन बार पढ़ना चाहिए तभी उसे छापने की अनुमति (Print order) देनी चाहिए। इससे उस सामग्री में त्रुटि रह जाने की सम्भावना न्यूनतम हो जाती है। यद्यपि ऐसा कहना

---

९. एक विश्वविद्यालय के कुलपति महोदय परीक्षक प्रतिवेदन बहुत ध्यान से पढ़ते थे। यदि परीक्षक ने अपने प्रतिवेदन में टङ्कणगत त्रुटियों का उल्लेख करते हुए उसके संशोधन का सुझाव दिया है, तो वे उस अनुसंधाता/-धात्री के मौखिक परीक्षण की स्वीकृति न देकर, शोध-प्रबन्ध की त्रुटियों का संशोधन करके निर्देशक के तद्विषयक प्रमाण-पत्र के साथ, उसकी पुनः प्रस्तुति के लिए लिख देते थे। उस विश्वविद्यालय के मेरे एक मित्र प्राध्यापक ने यह बताते हुए अनुरोध किया था कि प्रतिवेदन में प्रूफ की त्रुटियों का उल्लेख न किया जाय।

१०. एक शोध प्रबन्ध में मुझे अनेकत्र ऐसे टंकित शब्द मिले, जिनका अर्थ ही समझ में न आये। बड़ी कठिनाई से वे शब्द स्पष्ट हो सके। उदाहरण के लिए 'प्रतिपल' के स्थान पर 'प्रफिल' टङ्कित था। 'सरकारी' के स्थान पर 'तरकारी', 'बकरी' के स्थान पर 'कबरी', 'बड़ी बहू' के स्थान पर 'बड़ी बही' इत्यादि।

११. यथा, 'उपेक्षा' का 'अपेक्षा' मुद्रित हो जाना।
'उपकार' का 'अपकार' मुद्रित हो जाना।

असम्भव है कि "इस मुद्रित सामग्री में प्रूफ सम्बन्धी कोई त्रुटि नहीं है।" क्योंकि जिस प्रकार खेत-खलिहान में लाख बटोरने/साफ करने पर भी अन्न का दाना या दाने रह ही जाते हैं, उसी प्रकार अत्यन्त सावधानीपूर्वक कई बार संशोधन करने पर भी मुद्रण में कहीं न कहीं कोई त्रुटि/टूट/छूट रह ही जाती है। तथापि, अपनी ओर से सम्पूर्ण प्रयत्न के साथ प्रूफ संशोधन अवश्य करना चाहिए। संस्कृत ग्रन्थों के 'निर्णय-सागर संस्करण' प्रूफ की न्यूनतम अशुद्धि के कारण ही प्रामाणिक माने जाते हैं। उस समय निर्णय सागर मुद्रणालय, मुम्बई में विद्वान्/पण्डित प्रूफ संशोधन का कार्य करते थे। वे बड़ी तत्परता और निष्ठा के साथ यह कार्य करते थे। शोधार्थी को भी तन्मय होकर यह कार्य करना चाहिए। अतः यहाँ प्रूफ पढ़ने (संशोधन) के लिए कुछ आवश्यक नियम और चिह्न उल्लिखित किये जा रहे हैं-

१. टङ्कित/मुद्रित पृष्ठ के दोनों ओर (बाँये-दायें) पर्याप्त हाशिया (Margin) या जगह (Space) छोड़ना चाहिए ताकि संशोधित अंश लिखा जा सके या संशोधन के चिह्न बनाये जा सकें। प्रथम प्रूफ में यह अति आवश्यक है।

२. पृष्ठाङ्कित सामग्री को काल्पनिक रूप से अगल-बगल दो बराबर भागों में विभक्त कर लेना चाहिए।

३. संशोधन या सङ्केत चिह्न पंक्ति के सामने बनाना चाहिए। आधी पंक्ति का संशोधन बाँयी ओर से आरम्भ करके क्रमशः करना चाहिए तथा शेष आधी पंक्ति का संशोधन मध्य भाग से आरम्भ करके क्रमशः दायीं ओर करना चाहिए। इस प्रकार प्रत्येक पंक्ति का संशोधन करते हुए ऊपर से नीचे आते हुए पृष्ठ को पूरा करना चाहिए।

४. संशोधन का लेखन या सङ्केत चिह्न का निर्माण स्पष्ट रूप से करना चाहिए ताकि टङ्कक/मुद्रक को पढ़ने या समझने में कठिनाई न हो।

५. मुद्रण/टङ्कण प्रायः काली स्याही से होता है। वैसे भी जिस स्याही से टङ्कण/मुद्रण हुआ हो, संशोधन सदैव उससे भिन्न स्याही से करना चाहिए ताकि संशोधन आसानी से पकड़ में आ जाय। प्रायः प्रूफ संशोधन में लाल स्याही का प्रयोग किया जाता है। कभी-कभी अन्तिम प्रूफ ग्रेफाइट पेंसिल से भी संशोधित किया जाता है।

६. मूल वस्तु में जो कुछ नयी वस्तु जोड़नी-घटानी हो, वह पहले प्रूफ के स्तर पर ही करनी चाहिए। प्रूफ के अन्तिम स्तर (दूसरे-तीसरे प्रूफ में) पर ऐसा नहीं करना चाहिए। इससे मुद्रक/टङ्कक को असुविधा होती है। अन्त तक जोड़ने-घटाने से लेखक की अस्थिरचित्तता से ग्रन्थ के प्रकाशन में अनावश्यक विलम्ब होता है और लागत व्यय भी बढ़ता है। क्योंकि निर्धारित दर पर टङ्कक/मुद्रक अधिक

से अधिक तीन (या कभी-कभी चार) प्रूफ ही देते हैं।

७. प्रूफ संशोधक द्वारा टङ्कक को किसी भी प्रकार का निर्देश, प्रथम पृष्ठ के ऊपर बायीं ओर देना चाहिए और वहाँ दिनाङ्क सहित अपना हस्ताक्षर अवश्य अङ्कित करना चाहिए।

प्रूफ संशोधन के सङ्केत चिह्न

१. परस्पर मिलना – =	२. एक दूसरे से अलग करना – #
३. छूट – ∧ , ‸	४. किसी अक्षर/शब्द को हटाना – d, D
५. ऊपर ले जाना – ↑	६. नीचे ले आना – ↓
७. अक्षर का फाण्ट गलत होना– WF	८. अनुच्छेद (Paragraph) बदलना – N.P.

उदाहरण- १

(हस्तलिखित, सङ्केत चिह्नों सहित — अनुमानित पाठ)

आजफल भारत में आतङ्कवाद इतना
बढ़ गया है की घर से बाहर जाकर जब तक
घर वापस न पहुँच जाँय, डर बना ही रहता
है, क्योंकि जनता स्वयं सुरक्षित रखने की कोशिश
प्रयत्न करती है तथापि सुरक्षा का दायित्व
सरकार की है।

उदाहरण- २

(हस्तलिखित, सङ्केत चिह्नों सहित — अनुमानित पाठ)

जननी गोसेवया किमप्युपार्जयति स्म। प्रातःकाले
दुग्धं कदम्बाय प्रयोक्तुं संरक्ष्य सायंकालिकं दुग्धं
विक्रीणीति स्म। गोसेवैव ममाभ्युन्नतिमूलकम्।
मयापानि कष्टानि अनुभूतानि तान्यन्ये नेति। क्रियमाणं
मत्सेवाकर्म विद्यानीत केवलं सहानुभूतिप्रदर्शनम्।
अन्यत् किमपि कर्तुं मम किं सामर्थ्यम्? तन्नेत्रयोः N.P.
नेत्रे सम्मेल्य मया केवलमिदमुक्तम्-"भवतु
नाम कृपणा त्वत्समा अन्येऽपि।"
वदान्यः कृपणः कश्चित् कथायां कथितो मया।
जहौ स्वार्थं परार्थाय यथा साहित्यलक्षणम्॥
आदर्शः गुरुः सन्तः छात्राणाँ परमेष्ठिनः।
तथाविधः समाजोऽपि सद्दृशो देशस्य संस्कृतिः॥

उदाहरण ३-

(हस्तलिखित, सङ्केत चिह्नों सहित — अनुमानित पाठ)

In the fields of algebra, botany, medicine, arithmetic etc. one is attracted by the copiousness of the technical material. A thorough study of the vast literature will illumine new spheres of researches and peculiarities of linguistic process.

४

चतुर्थ अध्याय

पाण्डुलिपि-सम्बद्ध शोध-प्रविधि

श्रुति परम्परा के पश्चात् लिपि परम्परा अस्तित्व में आयी। किसी कथन का श्रवण करके उसे यथावत् धारण (स्मरण) कर लेना 'श्रुति' है। वेदों का रक्षण इसी विधि द्वारा होने से उनकी अपर संज्ञा 'श्रुति' है। परवर्ती काल में धारणाशक्ति (स्मरणशक्ति) के ह्रास और ज्ञानराशि की निरन्तर वृद्धि के फलस्वरूप मनुष्य ने इसके संरक्षण का जो विकल्प आविष्कृत किया, वह है 'लिपि' (लेखन)। 'लिपि-विज्ञान' एक स्वतंत्र और व्यापक विषय है। लिपि के आविष्कार और विकास से ध्वनि के प्रतीक चिह्नों-अक्षरों (वर्णों) की योजना से लेखन का आरम्भ हुआ। इस प्रकार जो वस्तु कही-सुनी जाती थी, वह हाथ से लिखी जाने लगी। भावाभिव्यक्ति का यह नूतन प्रकार 'लेख' कहा गया। भाषा साङ्केतिक एवं वाचिक माध्यम से आगे बढ़कर लिखित माध्यम के द्वारा साकार हुई। यह वाचिक (श्रुति) और लिखित परम्परा साथ-साथ चल रही है।

'लिपि' शब्द का प्रयोग प्राचीन संस्कृत वाङ्मय में उपलब्ध होता है।[1] यह शब्द 'लिप्' धातु से 'इक्' प्रत्यय के योग से बनता है। मूल धातु के आश्रय से इसका प्रारम्भिक अर्थ है- लीपना, पोतना। पुनः इसका अर्थ हुआ- लिखना, लिखावट, लिखित अक्षर, वर्ण और वर्णमाला। लेखन कला, रेखाङ्कन और चित्राङ्कन का अर्थ

---

१. (क) 'यवनाल्लिप्याम्'- यवनानां लिपिः यवनानी। पा. ४/१/४९ पर वार्तिक।
(ख) 'लिपेर्यथावद् ग्रहणेन वाङ्मयं नदीमुखेनैव समुद्रमाविशत्।' - रघुवंश., ३/२८.
(ग) 'अयं दरिद्रो भवितेति वैधसीं लिपिं ललाटेऽर्थिजनस्य जाग्रतीम्।' - नैषधीय, १/१५.

भी लिपि शब्द देता है। लिपि या लेखन की आधार सामग्री के रूप में प्रारम्भ में पाषाण फलक, काष्ठ फलक, धातु फलक, वृक्षों की छाल (विशेषतः भूर्जत्वक् = भोजपत्र), ताड़पत्र, चर्म, वस्त्र आदि का प्रयोग होता था किन्तु कागज (Paper) के आविष्कार के साथ ही मसी (स्याही) और लेखनी आदि का स्वरूप भी बदला और लेखन कला का व्यापक विकास हुआ।

हिन्दी में जिस अर्थ में 'पाण्डुलिपि' शब्द का व्यवहार प्रचलित है उसके लिए विद्वान् 'मातृका' शब्द का प्रयोग करते हैं। वस्तुतः 'मातृका' शब्द मूल हस्तलेख के अर्थ में उपयुक्त है। उस 'मातृका' की अनेक हस्तलिखित प्रतिकृतियों के लिए पाण्डुलिपि (अथवा पाण्डुलेख) का प्रयोग किया जाता है। 'मातृका' भी कालान्तर में पाण्डुलिपि की कोटि में आ जाती है। नवीन अथवा अर्वाचीन हस्तलेख को पाण्डुलिपि कहना या पाण्डुलिपि की कोटि में रखना उचित नहीं है। प्राचीन हस्तलेख ही पाण्डुलिपि कहलाने के अर्ह हैं और उस दृष्टि से उनका महत्त्व है।

जैसे 'MANU SCRIPT' शब्द दो शब्दों MANU और SCRIPT के योग से बना है, वैसे ही 'पाण्डुलिपि' शब्द भी दो शब्दों 'पाण्डु' और 'लिपि' के योग से बना है। 'लिपि' के सम्बन्ध में विचार किया जा चुका है। अतः 'पाण्डु' के सम्बन्ध में भी विचार करना प्रासङ्गिक होगा तभी पाण्डुलिपि की यथार्थता का बोध हो सकेगा।

'पाण्डु' का शाब्दिक अर्थ है-, पीतधवल या सफेदी लिये हुए पीला। जब कोई सफेद वस्तु (वस्त्र, कागज आदि) पुरानी होने लगती है तो उसकी सफेदी में सहज ही पीलापन आने लगता है। अति प्राचीन हो जाने पर उसकी यह वर्ण विकृति (बदरंगापन) स्थायी हो जाती है। वस्तु का यह पीला रंग 'पाण्डु' कहलाता है। इस प्रकार, वह प्राचीन लेख, जो किसी चर्मपत्र, ताड़पत्र, भूर्जपत्र, सफेद कागज या कपड़े पर लिखा गया है, 'पाण्डुलिपि' अथवा 'पाण्डुलेख' कहा जाता है। पाषाण, धातु, काष्ठादि पर उत्कीर्ण या लिखित हस्तलेख को पाण्डुलिपि (अथवा, पाण्डुलेख) की संज्ञा देना उचित नहीं होगा। हाँ, उन्हें 'मातृका' अवश्य कहा जा सकता है। क्योंकि 'पाण्डुलिपि' में जो विवर्णता का भाव है, वह पाषाणादि में नहीं आता।

लेखन के क्षेत्र में 'हस्तलेख' की परम्परा का ह्रास आज प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रहा है। सङ्गणक जैसे लेखन के उपकरणों के आविष्कार और विकास के साथ ही आधुनिक सञ्चार माध्यमों के निरन्तर उपयोग के चलते भविष्य में 'हस्तलेखन' इतिहास की वस्तु रह जायेगी। विश्व की सम्पूर्ण जनसंख्या के सम्भवतः एक प्रतिशत या इससे भी कम लोग पाण्डुलिपियों से सरोकार रखते होंगे। किन्तु इस क्षेत्र

में कार्य करने वाले हम जैसे पढ़े-लिखे लोग पाण्डुलिपियों के महत्त्व को अच्छी तरह जानते हैं। पाण्डुलिपियाँ हमारी अमूल्य निधि हैं। इस अर्थ में भारत देश अत्यन्त गौरवशाली है कि वह पाण्डुलिपियों के विशाल भण्डार से सर्वाधिक समृद्ध है। आज भी इस देश में विभिन्न भाषाओं में, विभिन्न लिपियों में लिखित असंख्य पाण्डुलिपियाँ हैं; जबकि अतीत में ज्ञाताज्ञात कारणों से लाखों पाण्डुलिपियाँ नष्ट हो चुकी हैं। वस्तुतः यह हमारे देश की महती क्षति है जिसकी प्रतिपूर्ति (भरपाई) कथमपि सम्भव नहीं है। वर्तमान में हमारा कर्तव्य यही है कि उपलब्ध पाण्डुलिपियों का सर्वात्मना संरक्षण और समुचित उपयोग हो। प्रसन्नता का विषय है कि इस दिशा में शासन और व्यक्तिगत स्तर पर प्रयत्न किये जा रहे हैं।

पाण्डुलिपि-लेखन

पाण्डुलिपि (प्राचीन हस्तलेख)-लेखन हेतु मूलतः दो साधन अनिवार्य हैं- उपकरण और लेखक। उपकरणों में प्रथम स्थानीय है लेखनाधार, जिनका उल्लेख पूर्वतः किया जा चुका है (पाषाण से लेकर कर्गद = क़ागज तक)। सहायक उपकरणों में रेखापाटी, धागा (सूत), हरताल, स्याही और चित्र रचना हेतु परकार तथा नाना प्रकार के रङ्ग। लेखनाधार पर रेखाएँ खींचने के लिए काठ की सीधी पतली पट्टी को 'रेखापाटी' कहा जाता है। रेखापाटी का विकसित एवं समुन्नत रूप आज 'इंच' (Scale) के रूप में हमें सर्वत्र दिखाई देता है। यह प्रायः १२ इंच (३० से.मी.) लम्वी, ०१ इंच चौड़ी और ०१ सूत (१/१० इंच) मोटी पटरी होती है जो एक ओर एकदम सपाट और चिकनी होती है तथा इसके किनारे सीधे और चिकने होते हैं। मुख्यतः यह रेखा खींचने और लम्बाई नापने के काम आती है क्योंकि आधुनिक पटरी (Scale) में ऊपर दोनों ओर इंच तथा सेंटीमीटर के पैमाने (निशान) बने होते हैं। पहले तो यह लकड़ी की ही बनी थी किन्तु अब कठोर प्लास्टिक और धातु (स्टील, एल्युमिनियम, पीतल आदि) की भी बनने लगी है। लेखन हेतु पङ्क्तियों को टेढ़ी-मेढ़ी होने से बचाने तथा दो पंक्तियों में समान दूरी (आवश्यकतानुसार) रखने के लिए, सीधी रेखा खींचने में 'रेखापाटी' का प्रयोग होता है।

पानी में 'हरताल' (एक प्रकार का पीला खनिज) को घोलकर पीला रंग तैयार किया जाता है। इसका हलका घोल बनाया जाता है और इसमें धागा (सूत) भिगो कर रेखापाटी की सहायता से खींची गयी रेखा पर उस सूत से पीली रेखाएँ

खींची जाती हैं[2] उनके सूख जाने पर अक्षरों का माथा (ऊर्ध्व भाग) उन्हीं रेखाओं पर रखते हुए लेखन किया जाता था। 'स्याह' (काला) से 'स्याही'[3] शब्द बना है। इससे सूचित होता है कि प्राचीन काल में स्याही (काले रँग का निर्मित द्रव पदार्थ) से ही लिखा जाता था। कालान्तर में 'स्याही' का अर्थ विस्तार हो गया और किसी भी रंग के उस लेखन द्रव पदार्थ को भी स्याही (संस्कृत शब्द- मसि, मसी, मशि, मषी) ही कहते हैं। प्राचीन पाण्डुलिपियों में रुपहली और सुनहली स्याही का भी शौकिया प्रयोग हुआ है। सचित्र पाण्डुलिपियों को प्रासङ्गिक चित्रों की रचना के साथ ही सजावट के साथ लिखा जाता था। संस्कृत के अनेक धार्मिक एवं साहित्यिक ग्रन्थों की सचित्र पाण्डुलिपियाँ ग्रन्थागारों में उपलब्ध हैं यथा- श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत महापुराण, ऋतुसंहार, गीतगोविन्द आदि।

पाण्डुलिपि ग्रन्थ के निर्माण में प्रयुक्त होने वाले उपकरणों का सामान्य परिचय देने के पश्चात् पाण्डुलिपि लेखन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण साधन है लेखक। प्रथमतया लेखक[4] की दो कोटियाँ हैं- श्रुतलेखक और दृष्टलेखक। जो सुनकर लिखता है उसे 'श्रुतलेखक' कहते हैं। महाभारत के लेखक (श्री) गणेश श्रुतलेखक हैं। महर्षि वेदव्यास बोलते थे और उसे सुनकर गणेश (जी) लिखते थे। पूरा महाभारत इसी तरह लिखा गया। जो लेखक पूर्वतः लिखी हुई सामग्री देखकर लिखता (प्रतिलिपि करता) है, उसे 'दृष्टलेखक' कहते हैं। पाण्डुलिपियों के अधिकांश लेखक इसी कोटि के है। आज भी जैन शालाओं में अपने धर्मग्रन्थों की पाण्डुलिपियाँ तैयार करने वाले (हस्तलेख तैयार करने वाले) दृष्ट लेखक श्रावक या भिक्षु हैं। जैन सम्प्रदाय में पाण्डुलिपि-लेखन को धर्म से जोड़कर (इष्टं धर्मेण योजयेदिति न्यायतः) जीवित रखा गया है।

प्राचीनकाल में राजशासन और धर्मशासन लिखने के लिए नियुक्त लेखक प्रायः वेतनभोगी होते थे अथवा नियत पारिश्रमिक प्राप्त करते थे। इसके अतिरिक्त

२. प्राचीन शिक्षा पद्धति में शिशु का अक्षरारम्भ काठ की पटरियों पर कराया जाता था। बालक उन काष्ठपट्टिकाओं को कालिख से लेपकर किसी ठोस चिकनी वस्तु से घोंट कर चमकाते थे और फिर सफेद खड़िया (दूधिया) घोल में सूत डुबोकर उससे रेखाएँ (सतर) खींचते थे।

३. स्याह और स्याही शब्द फ़ारसी भाषा का है। इसी अर्थ में फारसी का एक शब्द है- 'रोशनाई। रोशनाई का विशिष्ट अर्थ है 'चमकीली स्याही।'

४. कर्णिक, लिपिक, लिपिकार, कायस्थ आदि। वर्तमान में 'लेखक' का अर्थोत्कर्ष हो गया है।

स्वतंत्र रूप से पाण्डुलिपि लेखन, लेखक अपनी वृत्ति या आजीविका के लिए अपनाता था। लेखक पुराणादि धर्मग्रन्थों और महत्त्वपूर्ण अन्य विषयों के ग्रन्थों की पाण्डुलिपियाँ तैयार करके धनार्जन करते थे। कुछ लोग स्वेच्छया शौक के रूप में यह कार्य करते थे और कुछ लोग विशेष प्रयोजन से पाण्डुलिपि ग्रन्थों को लिखते-लिखाते थे। इस प्रकार, पाण्डुलिपि लेखक की कई परम्पराएँ प्रचलित थीं। डॉ. अभिराजराजेन्द्रमिश्र के अनुसार[५], "सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण थी **आनुष्ठानिक परम्परा**।" भारत में इस परम्परा का विशेष महत्त्व रहा है। इस परम्परा का तात्पर्य था अभीष्ट देवता को प्रसन्न करने के उद्देश्य से सम्पादित किसी धर्मानुष्ठान में किसी ग्रन्थ की प्रतिलिपि बनवाकर, एक निश्चित संख्या में वितरित कराने का सङ्कल्प लेना। प्रायः लोग स्तोत्रग्रन्थों की प्रतियाँ बनवाकर वितरित करने का सङ्कल्प लेते थे।[६] यह आनुष्ठानिक परम्परा थी।

इसी प्रकार की अन्यान्य परम्पराएँ भी थीं। लोग मनौतियाँ मानते थे कि मेरा अमुक कार्य यदि अमुक देवता की कृपा से सम्पन्न हुआ तो मैं अमुक ग्रन्थ की इतनी प्रतियाँ सुयोग्य विद्वज्जनों को वितरित करूँगा।

कभी-कभी अपने सम्प्रदाय, सिद्धान्त अथवा मन्तव्य के प्रचार-प्रसार हेतु भी ग्रन्थ विशेष की प्रतिलिपियाँ लिपिकारों से बनवाई जाती थीं। दूत, द्विज, बन्दी एवं चारण आदि यायावर प्रवृत्ति के लोग एक राज्य से दूसरे राज्य तक सञ्चरण करते, ग्रन्थों का भी वितरण करते रहते थे। इस परम्परा का ही परिणाम था, कि उत्तर भारत में लिखे गये काव्य ग्रन्थों की टीकाएँ धुर दक्षिण (केरल आदि) में लिखी गयीं।"

कुछ विद्वान् स्वान्तःसुखाय भी स्वकृत अथवा परकृत ग्रन्थों की मातृकाएँ तैयार करते थे। आचार्य रुय्यक कृत 'अलङ्कारसर्वस्व' के टीकाकार कश्मीरदेशीय आचार्य जयरथ ने टीका करने के लिए 'अलङ्कारसर्वस्व' की प्रतिलिपि की और उस पर अपनी 'विमर्शिनी टीका लिखी। तत्पश्चात् उन्होंने स्वयम् एक ग्रन्थ 'अलङ्कारोदाहरणम्' की रचना की और उसे अपने पौत्र को पढ़ाने के लिए उसकी 'मातृका' का निर्माण किया। 'अलङ्कारोदाहरणम्' अभी तक अप्रकाशित है। लेखक ने इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपियाँ (देवनागरी लिपि में) प्राप्त की हैं। पहली कोलकाता

---

५. शोधप्रविधि एवं पाण्डुलिपि विज्ञान, पृ. १०४।

६. लेखक (प्रभुनाथ द्विवेदी) की पूज्य माताजी जब अमरनाथ दर्शन के लिए गयी थीं, तब उन्होंने 'द्वादशज्योतिर्लिङ्गस्तोत्रम्+शिवमानसपूजास्तोत्रम्' की २१०० प्रतियाँ मुद्रित कराकर वहाँ वितरित करायी थीं।

स्थित एसिआटिक सोसायटी के पाण्डुलिपि ग्रन्थालय से और दूसरी, पुणे स्थित भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट के पाण्डुलिपि ग्रन्थालय से। दोनों पाण्डुलिपियों में ढ़ेर सारे पाठभेद हैं। तुलनात्मक रूप से इसका सम्पादन करके शीघ्र ही प्रकाशन सम्भावित है।

पुराणों में हस्तलेख और लेखकों की चर्चा हुई है। लेखन विषयक कुछ ग्रन्थ भी मध्यकाल में प्रणीत हुए हैं। इन ग्रन्थों में बारहवीं शताब्दी ई. का आचार्य क्षेमेन्द्र प्रणीत **लोकप्रकाशः** ज्ञात प्रथम ग्रन्थ है। इसके पश्चात् विद्यापति के द्वारा प्रणीत '**लिखनावली**' (१४१८ ई.) और हरिदासप्रणीत 'लेखकमुक्तामणिः' और 'लेखपञ्चाशिका' नामक ग्रन्थ हैं। इनमें हस्तलेखनविषयक विवरण प्रस्तुत किये गये हैं।[७]

किसी भी वरेण्य लेखक में कम से कम दो गुण (विशेषताएँ) तो होने ही चाहिए- स्थिर-आसनता और स्थिरचित्तता। इनके बिना लेखकीय कार्य चलने वला ही नहीं है। इनके साथ ही उसमें उत्तम लेखकीय उपकरणों (कर्गदादि आधार, लेखनी और मसी) की परख भी होनी चाहिए। गरुड़ पुराण में लेखक के लिए आवश्यक गुणों का निर्देश किया गया है-

> "**मेधावी वाक्पटुः प्राज्ञः सत्यवादी जितेन्द्रियः।**
> **सर्वशास्त्रसमालोकी ह्येष साधुस्स लेखकः।।**"[८]

अर्थात्, एक भले लेखक को मेधावी, वाक्कुशल, प्रतिभाशाली, सत्यवादी, जितेन्द्रिय और समस्तशास्त्रों में निष्णात होना चाहिए। वस्तुतः ये लेखक के आदर्श गुण हैं। कोई लोकोत्तर या दैवीशक्तिसम्पन्न (यथा- गणेश) ही इन समस्त गुणों से सम्पन्न हो सकता है। 'वाक्पटुता' का अभिप्राय यहाँ 'वाग्मिता' से है (मितं च सारं च वचो हि वाग्मिता)। लेखक को वाचाल या वाचाट अर्थात् बातूनी (व्यर्थ की बकवास करने वाला) तो कदापि नहीं होना चाहिए क्योंकि इसकी बड़ी हानियाँ हैं जिसका दुष्प्रभाव हस्तलेख (पाण्डुग्रन्थ) पर निश्चय ही पड़ेगा। इसी प्रकार 'सर्वशास्त्रसमालोकी' होना भी कदाचित् असम्भव ही है। हाँ, उसे 'Jack of all but master of none' - कोटिक नहीं होना चाहिए।। उसे जिस/जिन शास्त्र/शास्त्रों का ज्ञान हो, परिपक्व हो।

मत्स्यपुराण (अध्याय १८९) में लेखक के सम्बन्ध में इससे भी अधिक

---

७. डॉ. अभिराज राजेन्द्र मिश्र : शोध प्रविधि एवं पाण्डुलिपि विज्ञान, पृ. ९६।

८. वही, पृ. ९६।

विस्तृत और महत्त्वपूर्ण विवरण दिया गया है-

'सर्वदेशाक्षराभिज्ञः सर्वशास्त्रविशारदः।
लेखकः कथितो राजन् सर्वाधिकरणेषु वै।।
शीर्षोपेतान् सुसम्पूर्णान् शुभश्रेणिगतान् समान्।
अक्षरान् वै लिखेद्यस्तु लेखकः स वरस्मृतः।।
उपायवाक्यकुशलः सर्वशास्त्रविशारदः।
बह्वर्थवक्ता चाल्पेन लेखकः स्यान्नृपोत्तम।।
नानाभिप्रायतत्त्वज्ञो देशकालविभागवित्।
अनाहार्यो नृपे भक्तो लेखकः स्यान्नृपोत्तम।'[९]

यहाँ लेखक के जिन गुणों और वैशिष्ट्यों का उल्लेख किया गया है, वे अपने आप में विलक्षण हैं। लेखक को अनेक लिपियों का ज्ञाता होने के साथ ही बहुशास्त्रज्ञ भी होना चाहिए। उसकी लिखावट (वर्णसंरचना) अत्यन्त सुन्दर और स्पष्ट होनी चाहिए। अक्षरों का माथा भरा हो, अक्षर पूरे हों, पंक्तिबद्ध हों, टेढ़े-मेढ़े और ऊपर-नीचे न हों, उनकी लम्बाई और सघनता/विरलता एकरूप हो। लेखक थोड़ा देख-सुनकर पूरे अर्थ को समझने और अभिव्यक्त करने वाला होना चाहिए। वह अनुचित तरीकों से प्रभावित होने वाला न हो (अर्थात् कोई प्रलोभन देकर उसे अपनी ओर मिला न ले) तथा राजा/स्वामी में अनुरक्त एवम् उसका विश्वासपात्र हो।

अन्तिम श्लोक में, राजकीय लेखकों (प्रतिलिपिकारों) के सम्बन्ध में कहा गया है ताकि वे आधिकारिक अभिलेखों की प्रतिलिपि करने में कोई उलट-फेर न करें और ग्रन्थ लेखकों के सम्बन्ध में भी सामान्यतः लोभ या अन्य कारणों से पाठ भ्रष्टता तथा प्रक्षेप विषयक सतर्कता की ओर सङ्केत है।

पाण्डुलिपि के प्रकार

पाण्डुलिपि के मुख्यतः चार प्रकार हैं-

१. आधार का आश्रित प्रकार,
२. आकृति का आश्रित प्रकार,
३. लेखनशैली का आश्रित प्रकार,
४. रूपाङ्कन का आश्रित प्रकार।

पाण्डुलिपि का प्रथम प्रकार लेखन के आधार पर आश्रित है। गुहाभित्ति, प्रस्तरफलक (शिला), स्तम्भ, काष्ठफलक, मृत्तिकाफलक, धातुफलक, ताड़पत्र,

९. डॉ. अभिराज राजेन्द्र मिश्र : शोध प्रविधि एवं पाण्डुलिपि विज्ञान, पृ. ९६।

भोजपत्र (भूर्जत्वक्), अन्य वृक्षों के बल्कल (छाल), चर्म, कर्गद (कागज) एवं वस्त्र आदि। इन्हें आधार बनाकर लिखी गयी मातृकाएँ/पाण्डुलिपियाँ भारत ही नहीं विश्व में अनेकत्र बहुशः प्राप्त हुई हैं। प्राचीन गुफाओं के भीतर आखेट आदि के चित्राङ्कनों के साथ लेख भी प्राप्त हुए हैं। मध्यप्रदेश में प्राप्त 'जोगीमारा' और 'भीमबेटका' की गुहाभित्तियों के लेखक इसके उदाहरण हैं। प्राचीन मन्दिरों की भित्तियों पर भी धार्मिक लेख उत्कीर्ण/लिखित प्राप्त हुए हैं। शिलालेख और स्तम्भ लेख भी इसी कोटि में परिगणित हैं। ऐसे लेखों की लम्बी सूची है।

आकृति पर आश्रित पाण्डुलिपियाँ पाँच प्रकार की हैं- गण्डी, कच्छपी, मुष्टी, सम्पुटफलक और छेदपाटी।[१०]

जो पाण्डुलिपि चौड़ाई और मोटाई में एकरूप हो तथा लम्बी हो, उसे **गण्डी** कहते हैं। ताड़पत्र पर लिखी पाण्डुलिपियाँ प्रायः **गण्डी** होती हैं।

कच्छप (कछुवा) की आकृति वाली पाण्डुलिपि को **कच्छपी** कहते हैं। इस प्रकार की पाण्डुलिपियों का मध्यभाग चौडा होता है तथा प्रान्तभाग त्रिकोण या वर्तुल आकार में सङ्कीर्ण (पतला) होता है।

जो पाण्डुलिपियाँ मुष्टि ग्राह्य (मुट्ठीभर की) हों, उसे **मुष्टी** कहते हैं। इसे सामान्यतया **छोटा गुटका** भी कह सकते हैं। ये प्रायः छोटे और महीन अक्षरों में भूर्ज पत्र या कागज पर लिखी जाती थीं। एकाध इंच की लम्बाई-चौड़ाई वाली (प्रायः धार्मिक ग्रन्थों की) पाण्डुलिपियाँ देखने में आती हैं। ये न्यूनतम आकार में भी उपलब्ध होती हैं जिन्हें **ताबीजी** (ताबीज के अन्दर रखी जाने वाली) भी कहते हैं। काली रोशनाई से भूर्जपत्र पर लिखी श्रीदुर्गासप्तशती (सम्पूर्ण) की एक ऐसी ही प्राचीन पाण्डुलिपि मेरे पितामह की काष्ठपेटिका में मुझे प्राप्त हुई और मेरे पास सुरक्षित है। यह रेशमी धागे से सिली हुई और दुहरी (Two Fold) है।

कागज अथवा ताड़पत्र पर लिखी हुई अधिक पृष्ठों वाली पाण्डुलिपियों को सुरक्षित करने के लिए उसके नीचे-ऊपर काठ की उसी आकार की पट्टिकाएँ लगा देते थे। इसे **सम्पुटफलक** पाण्डुलिपि कहते हैं। पहले पत्राकार पुराणादि को इसी प्रकार रखा जाता था। मुद्रण कला का आविष्कार होने के पश्चात् भी धार्मिक मान्यताओं और परम्पराओं के कारण धार्मिक ग्रन्थ प्रायः पत्राकार ही छापे जाते थे

१०. गंडी कच्छवि मुट्ठी संपुडफलए छिवाडीय।
एवं पत्ययपणयं वक्खाय णिणं भवेतस्स।। - दशवैकालिक पर हरिभद्र टीका (डॉ. अभिराज राजेन्द्र मिश्र कृत 'शोधप्रविधि एवं पाण्डुलिपि विज्ञान' के पृ. १०९ पर पादटिप्पणी उद्धत)।

और उनकी फोल्डिंग और सिलाई (अर्थात् जुजबन्दी और जिल्दसाजी) नहीं की जाती थी। तब उन्हें इसी प्रकार रखा जाता था।[११] काष्ठफलक (काठपट्टी) से सम्पुटित करने के कारण ही इन्हें **सम्पुटफलक** कहा गया।

कम चौड़े और कम पन्नों के कारण सामान्यतः कम मोटाई वाली पाण्डुलिपियों को **छेदपाटी** कहा जाता है। **छेदपाटी** का शाब्दिक अर्थ (सामान्यतः) होता है, वह पाटी (पट्टी या पट्टिका) जिसमें छेद (छिद्र) हो। 'पाटी' का आशय है काठ (लकड़ी) की स्वल्प मोटाई की लम्बी-चौड़ी पट्टी। कुछ वर्षों पूर्व तक शिशुओं का अक्षरारम्भ कराने के लिए प्राथमिक पाठशालाओं में हत्थे वाली ऐसी ही काठपट्टिओं का प्रयोग होता था। हत्थे में एक छेद भी रहता था जिसमें सूत या पतली रस्सी डालकर गाँठ लगाकर पट्टी को लटकाया जा सकता था। इस पट्टी को कालिख पोतकर चमकाया जाता था और उस पर खड़िया घोलकर सतर (रेखा) खींच कर बच्चे खतकटी नरकुल की कलम से उसी खड़िया से (अथवा सूखी खड़िया से भी) लिखते थे। इस प्रकार की 'छेटपाटी' का प्रयोग हमने बचपन में किया था।

मैंने ऐसी पाण्डुलिपियाँ देखी हैं, जिनके सम्पुटफलकों के बीचोबीच छिद्र होते हैं। ताड़पत्र पर लिखी पाण्डुलिपियों के पत्रों (पन्नों) के बीचोबीच गोलाकार खाली जगह छोड़कर उनमें छेद करके उन पत्रों को नीचे के फलक के पीछे मजबूत धागे में गाँठ बाँधकर पिरो दिया जाता है और उस धागे को ऊपर के फलक के छेद से बाहर निकालकर बाँध दिया जाता है। इससे पाण्डुलिपि के पत्रों का क्रम बना रहता है और उनके बिखरने का भय नहीं रहता। साथ ही, इस विधि से पाण्डुलिपि 'सम्पुटफलक' की अपेक्षा और अधिक सुरक्षित हो जाती है। विचारणीय है कि क्या इसे 'छेदपाटी' कहना संगत नहीं होगा?

लेखन (लिखावट तथा लिखने के माध्यम) के आधार पर भी पाण्डुलिपियों का वर्गीकरण किया गया है। इसमें मुख्य है पाण्डुलिपि के पृष्ठों का रूप विधान। इस आधार पर पाण्डुलिपि के आठ प्रकार हैं-

१. त्रिपाठ या त्रिपाट, २. पञ्चपाठ या पञ्चपाट, ३. शुण्डाकार, ४. सचित्रलेख (पाण्डुलिपि), ५. स्थूलाक्षर पाण्डुलिपि, ६. सूक्ष्माक्षर पाण्डुलिपि, ७. रजताक्षर पाण्डुलिपि और ८. स्वर्णाक्षर पाण्डुलिपि।

यद्यपि पाण्डुलिपियाँ प्रायः सीधी रेखा में सर्वसामान्य निरन्तरतापूर्वक लिखी जाती हैं किन्तु कभी-कभी मूल लेखक अथवा, प्रतिलिपिकार जो कलात्मक अभिरुचि

११. निर्णयसागर प्रेस, मुम्बई से मुद्रित 'श्रीदुर्गासप्तशती' की पत्राकार पोथी मेरे संग्रह में है।

वाला होता है, वह अपनी लिखावट में सजावट लाने के लिए अपनी रुचि के अनुसार कलाकारी का प्रयोग करता है। परिणामतः सचित्र पाण्डुलिपियों का निर्माण होता है। ग्रन्थ के भावों और घटनाओं के आश्रय से चित्राङ्कन अथवा पृष्ठों को विभिन्न प्रकार की रेखाओं (मोटी, पतली, इकहरी, दुहरी, तिहरी, सीधी या लहरदार रेखाएँ अथवा बेलबूटे इत्यादि) से सजाना (अलङ्कृत करना) लेखक की निजी रुचि पर निर्भर करता है।

उपर्युक्त आठों भेदों में से प्रारम्भ के तीन को छोड़कर शेष स्पष्ट हैं। उन तीनों का स्पष्टीकरण इस प्रकार है-

त्रिपाठ या **त्रिपाट** पाण्डुलिपि वह है जिसके पृष्ठ के मध्य में मूलग्रन्थ स्थूलाक्षरों में लिखा जाय और उसकी टीका सूक्ष्माक्षरों (मूल की अपेक्षा छोटे अक्षरों) में उसके दाँयें-बाँयें दोनों ओर लिखी जाय। इस प्रकार, प्रत्येक पृष्ठ तीन पाठों या पाटों (Parts) में स्पष्टतः विभक्त दिखायी पड़ता है। अतः इसे **त्रिपाठ** या **त्रिपाट** कहते हैं।

इसी प्रकार, **पञ्चपाठ या पञ्चपाट** वह पाण्डुलिपि है जिसके पृष्ठ के मध्य भाग में मूलग्रन्थ स्थूलाक्षरों में लिखा हो और उसके ऊपर-नीचे तथा अगल-बगल (बायें-दायें) उसकी टीका (या टीकाएँ) सूक्ष्माक्षरों में अङ्कित हों। इस प्रकार, पाण्डुलिपि का प्रत्येक पृष्ठ पाँच भागों (पाठों या पाटों) में विभक्त दिखाई पड़ता है। अतः इसे **पञ्चपाठ या पञ्चपाट** कहते हैं।

हाथी के सूँड़ (सूँढ़) के आकार की लिखावट वाली पाण्डुलिपि **शुण्डाकार** कही जाती है। इसमें ऊपर की पंक्ति पूरी लम्बाई में लिखी जाती है और उसके नीचे की पंक्तियाँ क्रमशः दोनों ओर से छोटी होती जाती हैं। इस प्रकार, ऊपर की चौढ़ाई अवरोहक्रम में पतली होकर हाथी की सूँड़ की आकृति ले लेती है। इसी से मिलती-जुलती 'वृक्षाकार' पाण्डुलिपि भी हो सकती है। स्वाभाविक है कि ऐसी चित्राकार लिखावट से पृष्ठ का पर्याप्त अंश खाली रह जाता है और लेखन आधारपत्र (पन्ने) की बर्बादी होती है। गनीमत है कि इस प्रकार का प्रयोग कम लोगों ने किया है अर्थात् ऐसी कुछ ही पाण्डुलिपियाँ होंगी।

कुण्डलाकार पाण्डुलिपियाँ भी उपलब्ध हुई हैं। बेबीलोनिया और मिस्र देश में पेपीरस पर लिखी पाण्डुलिपियाँ कुण्डलित आकार (Scrolls) में सुरक्षित रखी जाती थीं। कागज, वस्त्र और चर्म पर लिखी पाण्डुलिपियों को कुण्डलित करके (लपेटकर) रखा जा सकता है। भारत में भी इस प्रकार की परम्परा रही है।

प्राचीनकाल के शासनादेश कुण्डलित आकार में होते थे। जातकों (शिशुओं) की जन्मपत्रिकाओं को लिखने और लपेटकर सुरक्षित रखने के कारण उनको 'जन्म कुण्डली' कहा जाने लगा। यह आज भी प्रचलित है।

भारतवर्ष में लिखा कुण्डलाकार 'श्रीमद्भागवतपुराण' ब्रिटिश म्यूजियम में सुरक्षित है। यह पाँच इंच चौड़ी और पचपन फीट लम्बी कुण्डली में लिखा गया है। बड़ौदा (गुजरात) के प्राच्यविद्याभवन में एक कुण्डलित 'महाभारत' (एक लाख श्लोक) सुरक्षित है। इसकी चौड़ाई ५½ फीट तथा लम्बाई २२८ फीट है।[१२] कुछ वर्षों पूर्व मैंने समाचारपत्रों में पढ़ा था कि पूर्वोत्तर बिहार प्रान्त की एक चित्रकला निपुण महिला ने पूरे महाभारत का मधुबनी शैली में चित्राङ्कन किया है जिसके कागज की लम्बाई कई किलोमीटर है और उसे कुण्डलित करके (लपेटकर) रखा जा रहा है।

पाण्डुलिपि-संरक्षण

प्राकृतिक या कृत्रिम, कोई भी वस्तु चाहे जैसी भी बनी हो, समय के साथ क्षीण होती है। अनेक कारणों से उसमें क्षरण अथवा, ह्रास आने लगता है। अतः उसे सुरक्षित रखने, उसका मूल स्वरूप बनाये रखने के लिए नाना प्रकार के उपाय करने पड़ते हैं।

पाण्डुलिपियों को विकृत और नष्ट करने वाले कई कारक हैं- पानी, आग, कीट, हवा (नमी युक्त) सीलन आदि। अतः पाण्डुलिपियों की सुरक्षा हेतु पर्याप्त सावधानी बरतनी पड़ती है। इसके लिए सर्वप्रथम तो उन्हें रखने के स्थान का उचित चयन करना चाहिए। पाण्डुलिपि चाहे जैसी भी हों (लेखनाधार और स्वरूप की दृष्टि से) उन्हें ऐसे कक्ष में व्यवस्थित ढंग से रखना चाहिए, जो सीलन रहित और वर्षा के दिनों में भी सूखा हो। उसमें सीलन न हो, उसमें हवा और धूप अच्छी तरह आती हो। वह जलाशय के पास न हो अथवा जलाशय से घिरा न हो तथा सघन वृक्षों की निरन्तर छाया में न हो। यदि वह कक्ष सामान्य से अधिक ऊँचाई पर हो तो अच्छा है। कक्ष के अन्दर नम हवा और वर्षा की बौछार का प्रवेश नहीं होना चाहिए।

पाण्डुलिपियों को पारम्परिक रूप से काठ की पट्टियों के बीच रखकर सूखे वेठन (वेष्टन) में बाँधकर रखा जाता है। ऐसा करने में प्रायः मोटा लाल कपड़ा (तूल) प्रयोग किया जाता है। ताड़पत्र, भूर्जपत्र और कागज पर लिखी पाण्डुलिपियों में कीड़े लग जाते हैं तथा नमी (सीलन) और नम हवाओं के प्रभाव से भी

१२. डॉ. अभिराज राजेन्द्र मिश्र : शोध प्रविधि एवं पाण्डुलिपि विज्ञान, पृ. १११।

पाण्डुलिपियाँ खराब होने लगती हैं। अतः इन्हें समय-समय पर धूप अवश्य दिखाते रहना चाहिए। दीमक और रजत कीट (Silver worms = मछली की आकृति के सफेद चमकदार छोटे कीट) पाण्डुलिपियों के घोर शत्रु होते हैं। दीमक प्रायः मिट्टी या जमीन के अन्दर से आते हैं और पत्ते, कागज कौन कहे लकड़ियाँ भी चट कर जाते हैं। अतः पाण्डुलिपियों को मिट्टी या जमीन के सम्पर्क से बचाना चाहिए। कक्ष की फर्श का दीमकरोधी उपचार यथासमय कराते रहना चाहिए तथा अन्य कीटनाशक दवाओं का छिड़काव कराते रहना चाहिए। पुराना हो जाने पर बेठन (वेष्टन) को बदलते रहना चाहिए। अब तो आधुनिक उपचार विधियाँ सुलभ हैं और पाण्डुलिपियों की माइक्रोफिल्मिंग भी हो रही है। तथापि, पाण्डुलिपियों का उनके मूल रूप में संरक्षण अतिमहत्त्वपूर्ण है।

पाण्डुलिपि लेखक भी अपनी कृति की सुरक्षा के विषय में चिन्तित और सतर्क रहे थे। अतः वे लेखन के समय ही कुछ पारम्परिक मौलिक उपाय अपनाते थे। लेखन के आधार कागज का निर्माण करने में वे कीटनाशक द्रव्यों तूतिया, हल्दी, नौसादर, कपूर आदि मिश्रित कर लेते थे। ताड़पत्र, भूर्जपत्र पर इन्हें द्रव रूप करके इनसे लेप कर लेते थे। लिखने के लिए प्रयुक्त स्याही के निर्माण में भी ऐसे कीटनाशक पदार्थों का उपयोग किया जाता था।

इस प्रकार, प्राचीनकाल में पारम्परिक उपायों तथा आधुनिक काल में यांत्रिक एवं रासायनिक उपायों द्वारा पाण्डुलिपियों की सुरक्षा का प्रयत्न किया जाता था/है। इतिहास में उल्लेख प्राप्त होता है कि भारत में अनेक हस्त लेखागार आग की भेंट चढ़ गये। विद्वेषवश उन्हें जला डाला गया। अतिवृष्टि और बाढ़ में डूबने से भी पाण्डुलिपियाँ नष्ट हो जाती हैं।

पाण्डुलिपि-सम्पादन

किसी (प्राचीन) पाण्डुलिपि के ग्रन्थाकार प्रकाशन से पूर्व उसका सम्पादन आवश्यक होता है। बिना सम्पादन और बिना पुनर्लेखन के पाण्डुलिपि का प्रकाशन दुष्कर होता है। बिना ऐसा किये यदि वह पाण्डुलिपि मुद्रित की जाती है तो मुद्रित ग्रन्थ में नाना प्रकार की त्रुटियाँ और विसङ्गतियाँ होनी स्वाभाविक है। अतः पाण्डुलिपि प्रकाशन हेतु उद्योगी गवेषक/सम्पादक को उसे अच्छी तरह सम्पादित कर लेना चाहिए। पाण्डुलिपि सम्पादक के लिए अधोलिखित बातें अपेक्षित हैं-

१. सम्पादक को सहृदय और धैर्यशाली होना चाहिए।

२. उसे पाण्डुलिपि के वर्ण्यविषय का सम्यग् ज्ञान होना चाहिए। साथ ही, शास्त्रान्तर

का भी ज्ञान होना चाहिए।

३. उसे संशय रहित बुद्धिवाला होना चाहिए तथा पूर्वाग्रह रहित होना चाहिए।
४. उसे पाण्डुलिपि में प्रयुक्त भाषा में पारङ्गत होना चाहिए।
५. उसे पाण्डुलिपि में प्रयुक्त लिपि का ज्ञान और अच्छा अभ्यास होना चाहिए।
६. उसकी तर्कशक्ति प्रखर होनी चाहिए। उसे स्वतंत्र और उचित निर्णय लेने में समर्थ होना चाहिए।
७. उसे पाण्डुलिपि- (जिसका सम्पादन होना है) लेखन के देश और काल की परिस्थितियों से परिचित होना चाहिए।
८. उसे मूलग्रन्थ (मातृका) के लेखक के विषय में प्रयत्नपूर्वक जानकारी करनी चाहिए और सम्भव हो सके तो पाण्डुलिपिकार का भी परिचय प्राप्त करना चाहिए।
९. उसे पाण्डुलिपि निर्माण के प्रयोजन (उद्देश्य) के सम्बन्ध में भी जानने का प्रयत्न करना चाहिए।
१०. सम्पादक को उस पाण्डुलिपि के साथ ही, उस ग्रन्थ की अन्य पाण्डुलिपियों की भी गवेषणा करके (यदि उपलब्ध हों तो) सबका एकत्र सङ्ग्रह करना चाहिए।
११. सम्पादक का अपना हस्तलेख स्पष्ट और सुचारु होना चाहिए ताकि पुनर्लिखित (यदि स्वयं पुनर्लेखन करता है) सामग्री (पाण्डुलिपि) स्वच्छ और सुपाठ्य हो।

उपर्युक्त अपेक्षाओं पर खरा उतरने वाला सुयोग्य विद्वान् ही एक दक्ष और सफल पाण्डुलिपि सम्पादक हो सकता है।

किसी भी पाण्डुलिपि का सम्पादन करने में सर्वप्रमुख कार्य होता है ग्रन्थ के मूलपाठ की रक्षा। इस मूलपाठ को उस ग्रन्थ का शुद्धपाठ कहा जा सकता है। कभी-कभी मूलपाठ भी शुद्धपाठ नहीं होता क्योंकि ग्रन्थ की सर्वप्रथम तैयार होने वाली मातृका या तो ग्रन्थकार द्वारा स्वयं लिखी जाती है अथवा किसी सुयोग्य लेखक से ग्रन्थकार द्वारा बोल कर (जैसा कि महाभारतकार महर्षि व्यास द्वारा श्रीगणेश से) लिखवाई जाती है। स्वयं लेखन में भी ग्रन्थकार के लेखकीय प्रमाद, अज्ञान अथवा लेखन में अस्पष्टता के कारण मूलपाठ कदाचित् अशुद्ध हो सकता है। बोलकर लिखाने की प्रक्रिया में पाठों (शब्दों) के अशुद्धि की सम्भावना बढ़ जाती है

क्योंकि आवश्यक नहीं है कि सभी ग्रन्थकार महर्षि व्यास और श्रुतलेखक श्रीगणेश के स्तर के हों। ग्रन्थकार के विषयज्ञान और भाषाज्ञान में अन्तर होना स्वाभाविक है। व्यावहारिक रूप से लेखक, ग्रन्थकार से उन्नीस ही रहता है। यदि बीस हो, तो कोई बात ही नहीं है। लेखक की श्रवणेन्द्रिय की न्यून ग्राह्यता (अथवा, विकार) या फिर अपश्रुति के कारण भी लेखक से वर्णदेशना (वर्तनी) सम्बन्धी त्रुटियाँ हो जाती हैं अथवा मूल शब्द से मिलते-जुलते शब्द लिख दिये जाते हैं।[१३] 'बीस' का 'तीस' और 'तैंतीस' का 'पैंतीस' या 'सैंतीस' और 'तैंतालिस' का 'पैंतालिस' या 'सैंतालिस' प्रायः सुनाई पड़ जाता है। इसी प्रकार, 'विशेषः' का 'विषेशः', 'साशनम्' का 'शासनम्', 'स्वजनः' का 'श्वजनः' और 'सकृत्' का 'शकृत्' लिख जाना सामान्य बात है।

'रसना' कभी 'रशना' हो जाती है और 'वाह्य' हो जाता है 'बाह्य'। व्याकरण का सम्यग् ज्ञान न होने से ग्रन्थ का मूल लेखक (मातृकाकार) भी ऐसी अशुद्धियाँ कर सकता है। प्रसङ्गतः यहाँ मूलग्रन्थ के लेखन में ही होने वाली अशुद्धियों का सामान्य रूप से कतिपय उदाहरण देकर निर्देश किया गया।

जब मातृका से श्रुतलेख अथवा दृष्टलेख के माध्यम से एक या अनेक पाण्डुलिपियाँ तैयार की जाती हैं तो वहाँ अनेक पाठदोष या पाठान्तर हो जाते हैं। प्रायः वैदिक संहिताओं[१४] को छोड़कर शेष समस्त संस्कृत वाङ्मय (परवर्ती साहित्य) पाठदोष (पाठान्तर या पाठभेद) की समस्या से ग्रस्त है। पाठभेद के साथ ही 'प्रक्षेप' भी बहुत मिलते हैं। जो ग्रन्थ जितना अधिक लोकप्रिय होता है उनमें उतने ही अधिक पाठभेद और प्रक्षेप पाये जाते हैं। महाकवि कालिदास कृत गीतिकाव्य (अथवा, दूतकाव्य) 'मेघदूत' इसका निदर्शन है। मेघदूत पाठभेदों और प्रक्षेपों से भरा पड़ा है। अस्तु, पाण्डुलिपि-सम्पादक को मूलपाठ की गवेषणा (अथवा, निर्धारण) करने में पाठभेद की समस्या से जूझना पड़ता है तथा प्रक्षेपों का निराकरण भी करना

---

१३. तार (Telegraph) भेजने में सन्देश के शब्दाक्षरों का प्रेषण 'मोर्स की' द्वारा डैश (-) और डॉट (˙) विधि से किया जाता है। (अब भारत में तार प्रणाली बन्द कर दी गयी है।) तार का एक अत्यन्त मनोरंजक वृत्तान्त है कि सन्देश भेजने वाले ने लिखा- 'बाबूजी अजमेर गये, बड़ी बही भेज दो।' पाने वाले तार घर के लिपिक ने उसे पढ़कर अङ्कित किया- 'बाबूजी आज मर गये, बड़ी बहू भेज दो।'

१४. वेदमन्त्रों को 'विकृतियों' के द्वारा पाठभेद और प्रक्षेप से सुरक्षित रखा गया है। विकृतियाँ आठ हैं-

'जटा माला शिखा रेखा ध्वजो दण्डो रथो घनः।
अष्टौ विकृतयः प्रोक्ताः क्रमपूर्वा महर्षिभिः॥'

पड़ता है। अतः प्रस्तुत विषय के विवेचन हेतु इसे हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं-

(क) पाठभेद और प्रक्षेप के कारण।

(ख) पाठालोचन के सिद्धान्त।

(ग) पाठभेद का निदान और मूलपाठ (शुद्धपाठ) का निर्धारण।

अब हम क्रमशः इन पर विचार करते हैं-

(क) पाठभेद और प्रक्षेप के कारण

प्रायः लिपिकार पाण्डुलिपि लेखन के पश्चात् अन्त में लिख देते हैं-

'यादृशं पुस्तकं दृष्टं तादृशं लिखितं मया।
यदि शुद्धमशुद्धं वा मम दोषो न विद्यते।।'[१५]

अर्थात्, जैसी पुस्तक देखी वैसा ही लिख दिया (जो पुस्तक में लिखा है, मेरे द्वारा भी वही लिखा गया)। शुद्ध-अशुद्ध, जैसा भी है, मेरा कोई दोष नहीं है। यह लिखकर लिपिकार अपने को दोषमुक्त घोषित करते हुए पाण्डुलिपि के अन्तर्गत जो पाठभेदादि अशुद्धियाँ हैं, उन्हें मूलग्रन्थकार के ऊपर डाल देता है। वस्तुतः ऐसा नहीं है। लेखनगत दोष में दोनों ही कमोवेश सहभागी हैं। एक अंग्रेजी कहावत है- 'Man is to err' अर्थात् 'गलती करना मानवस्वभाव है।' जाने-अनजाने गलती मनुष्य से हो ही जाती है चाहे वह बालक हो, युवक हो अथवा वृद्ध हो। अच्छे से अच्छे, बड़े से बड़े सयाने (निपुण बुद्धिमान्) भी गलती कर बैठते हैं। चूक हो जाती है। "भाई, इसमें मेरी गलती नहीं है"- ऐसा कहकर निकलना तर्कसंगत नहीं प्रतीत होता, जैसा कि लिपिकर ने कहा है। ऐसा हो सकता है कि लिपिकार अपनी ओर से पर्याप्त प्रयत्न करे कि अशुद्धि न हो तथापि अशुद्धि रह जाना अस्वाभाविक नहीं है। यह सही है कि लिपिकार 'मक्षिकास्थाने मक्षिका' न्याय से लेखन करता है अर्थात् जो उसके समक्ष मूल ग्रन्थ में लिखित है, वही लिखता है। यदि मूल भ्रष्ट है तो फिर उसका दोष नहीं है। हाँ, मूलभ्रष्टता के साथ ही लिपिकार के लेखन में भी च्युति है तब तो 'कोढ़ में खाज' की स्थिति बन जायेगी और पाण्डुलिपि की गुणवत्ता तथा उपयोगिता महत्त्वहीन होकर व्यर्थ हो जायेगी। अतः सम्पादक को इन दोनों ही स्तरों पर सतर्क दृष्टि रखते हुए पाठालोचन करना चाहिए।

पाठभेद के अधोलिखित सम्भाव्य कारण हैं-

---

१५. चतुर्थ चरण, 'मम दोषो न विद्यते' के भी दो पाठभेद प्राप्त होते हैं- 'मम दोषो न दीयताम्' और 'नाहं तत्र कारणम्'।

१. ग्रन्थ के मूल लेखक या मातृकाकार का अज्ञान और प्रमाद - ज्ञान की कोई इयत्ता या सीमा नहीं है। 'मैं 'सर्वज्ञ' हूँ, सबकुछ जानता हूँ'- यह मिथ्याभिमान है। कोई मनुष्य बहुज्ञ हो सकता है और बहुज्ञता होने पर भी सभी विषयों में तलस्पर्शी पाण्डित्य हो- ऐसा भी प्रायः सम्भव नहीं। बोलने की अपेक्षा लिखना अधिक प्रामाणिक है। अतः लेखक को आत्मविश्वास से परिपूर्ण और शास्त्रीय मान्यताओं के सम्बन्ध में दृढ़ रहना चाहिए तथा जिस विषय पर पूर्ण अधिकार हो, उसी विषय पर लेखन करना चाहिए। लेखन के लिए विषय की प्रौढ़ि के साथ भाषा पर भी पूर्ण अधिकार रखना चाहिए क्योंकि अभिव्यक्ति का माध्यम भाषा ही है। उस भाषा का व्याकरण (सिद्धान्त और प्रक्रिया) जिसमें ग्रन्थ-लेखन करना है, पुष्ट होना चाहिए अन्यथा भाषागत अशुद्धियाँ अवश्यम्भावी हैं। भाषाज्ञान न होने से 'गरुड़' का 'गरुण' 'गुण' का गुड़' और 'गोवर' का 'गोबर' हो जायेगा। इसीलिए, "अष्टाध्यायी जगन्माताऽमरकोशो जगत्पिता" कहते हुए भाषा समृद्धि हेतु इस माता-पिता की आराधना पर बल दिया गया है। गुरुजन बालक (शिष्य) को सावधान करते हुए सीख देते हैं-

'यद्यपि बहु नाधीषे पठ पुत्र[१६] तथापि व्याकरणम्।
स्वजनः श्वजनो मा भूत्सकलः शकलः सकृच्छकृत्।।'

व्याकरण को जानने वाले (वैयाकरण) के द्वारा भाषागत अशुद्धियाँ होने की सम्भावना प्रायः नहीं के बराबर होती है। तथापि, एकाग्रचित्तता के अभाव में, लेखन में प्रमाद होना स्वाभाविक है और 'लिखत सुधाकर लिखि गा राहू' की कहावत चरितार्थ हो जाती है। 'सुखी लड़की' के स्थान पर 'सूखी लकड़ी' लिखा जाता है और कभी-कभी 'उपकार' तो 'अपकार' बनता ही है, 'भ्रातृवत्' 'मातृवत्' हो जाता है। ऐसे अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं।

मूल लेखक का अज्ञान भी पाठदोष में कारण होता है। अतः इस विषय में पर्याप्त सावधान रहने की आवश्यकता है। भगवान् विष्णुविषयक एक मङ्गल श्लोक का चतुर्थ चरण मैं विवाहादि के निमंत्रण पत्रों पर अशुद्ध ही मुद्रित देखता हूँ। 'मङ्गलायतनो हरिः' के स्थान पर प्रायः सर्वत्र मुझे 'मङ्गलाय तनो हरिः' देखने को मिलता है। एक प्रोफेसर बन्धु अपने लेख में कई बार 'मनोचिकित्सा' लिखे हुए थे। मैंने उन्हें सही शब्द (प्रयोग) समझाने की चेष्टा की तो वे मुझे ही डाँटने लगे- " 'मनोविज्ञान' होता है कि नहीं?" जब मैंने धैर्यपूर्वक उन्हें व्याकरण का नियम बताकर

---

१६. पाठान्तर- वत्स, मूर्ख, दुष्ट, शठ इत्यादि (वक्ता के तात्कालिक मनोभावों के अनुसार)।

समझाया तो किसी तरह अपनी गलती मानी। 'मनोकामना' (शुद्धरूप 'मनःकामना') तो आम आदमी ही नहीं अच्छे पण्डित लोग भी बोलते-लिखते हैं। सङ्गीत विभाग की दो प्राध्यापिकाएँ 'गुरवे' और 'गुरुवे' की शुद्धि पर उलझ गयी थीं। उनका झगड़ा हमारे संस्कृत-विभाग ने सुलझाया। ऐसे न जाने कितने उदाहरण मिल सकते हैं।

२. सुस्पष्ट लेखन का अभाव – ग्रन्थ की मूल प्रति (मातृका) स्पष्टाक्षरों में नहीं निर्मित है तो उसके प्रतिलिपीकरण में दोष आ सकता है। आवश्यक नहीं कि प्रतिलिपिकार अच्छा विद्वान् और जागरूक हो। यदि मूल की लिखावट साफ और सुन्दर नहीं है तो प्रतिलिपि करने में कठिनाई के साथ पाठभ्रष्टता आने की सम्भावना प्रबल होती है। कहते हैं– "खुशख़त होना खुदा की नियामत है" (A good handwritting is the gift of God) अर्थात् सुन्दर हस्तलेख ईश्वरीय वरदान है। किन्तु यह कहावत पूर्णतः सत्य नहीं है क्योंकि स्वयं मेरे समझाने से अनेक छात्रों ने श्रम और अभ्यास से अपनी खराब लिखावट को सुन्दर लिखावट में बदल दिया। इस प्रकार साफ लिखावट न होने से बहुत से शब्द, जिनमें वर्णसाम्य है, लिपिकार की भ्रान्ति (ठीक पकड़ न होने) के कारण बदल जाते हैं। वर्णसाम्य वाले कुछ शब्द इस प्रकार हैं– प्रथम- प्रशम। अपकार- उपकार। मान- भान। विद्यालय- विधालय। धन्यवाद- धनबाद। आशीर्वाद- आर्शीवाद। हनुमते- हनुमतये। बाह्य- वाह्य। सुखी- सूखी। विशेष- विषेश। स्वजन- श्वजन। इस प्रकार के अनेक शब्दयुग्म भाषा में प्राप्त होते हैं। लेखन में स्पष्टता न होने से अथवा क्लिष्टवर्णविन्यास अर्थात् घसीट कर लिखने से सामान्य पाठकों के लिए शब्दों की सही पहचान कर पाना- एक समस्या हो जाती है। इस तरह लिखावट की जटिलता भी पाठभेद का एक कारण बन जाती है। एक सज्जन 'कारण' को ऐसा घसीट कर लिखते थे कि वह पढ़ने में 'काल' लगता था। कुछ ऐसे ही घसीट लिखावट वाले अपना ही लिखा स्वयं नहीं पढ़ पाते।

३. सम्मिलित पदबन्ध – संस्कृत की मातृकाओं अथ च, पाण्डुलिपियों में सम्मिलित पदबन्ध लेखन की परिपाटी प्रचलित थी। वर्तमान काल की तरह पदों (शब्दों) को अलग-अलग नहीं लिखा जाता था। समस्त पदों (दीर्घसमासयुक्त पदों) को तो एक साथ मिलाकर लिखा ही जाता था किन्तु प्रायः असमस्त पदों को भी मिलाकर एक साथ लिखा जाता है। विराम चिह्नों की सुव्यवस्थित पद्धति भी प्राचीनकाल में न थी। केवल पूर्ण विराम (गद्य में एक पाई खड़ी (।) और पद्य में खड़ी एक पाई (।) तथा खड़ी दो पाई (।।)) का ही प्रयोग प्रचलित था। इस कारण कभी-कभी अनेक अर्थ देने वाले कई पाठ प्रकट हो जाते हैं और यह निश्चय करना

दुष्कर हो जाता था कि रचनाकार का अभिप्रेत मूलपाठ क्या है। बाणभट्ट कृत 'हर्षचरित' का एक लघुवाक्य यहाँ उदाहरण के रूप में प्रस्तुत है जिसे चार प्रकार से लिखा जा सकता है–

कामेभुजङ्गता?

A. का मे भुजङ्गता? B. कामे भुजङ्गता।

C. कामे भुजं गता। D. का मे भुजं गता?

उपर्युक्त चारों पाठभेद सार्थक हैं और प्रत्येक का अर्थ भिन्न है।

अतः संस्कृत भाषा में लेख सौष्ठव का विशेष महत्त्व है। समस्त और असमस्त पदों का ध्यान न रखने पर पाठदोष होना स्वाभाविक है। लेखन के सम्बन्ध में विचार करते हुए अच्छे लेख और लेखक का वैशिष्ट्य बताया गया है–

समशीर्षाण्यक्षराणि वर्तुलानि घनानि च।
परस्परमलग्नानि यो लिखेत्स हि लेखकः।।
समानि समशीर्षाणि वर्तुलानि घनानि च।
मात्रासु प्रतिबद्धानि यो जानाति स लेखकः।।
शीर्षोपेतान् सुसम्पूर्णान् शुभश्रेणिगतान् शुभान्।
अक्षरान् वै लिखेद्यस्तु लेखकः स वरः स्मृतः।।

मत्स्यपुराण के अनुसार लेखक की विशेषताएँ इस प्रकार हैं–

सर्वदेशाक्षराभिज्ञः सर्वशास्त्रविशारदः।
लेखकः कथितो राज्ञः सर्वाधिकरणेषु वै।।

गरुडपुराण के अनुसार,

मेधावी वाक्पटुः प्राज्ञः सत्यवादी जितेन्द्रियः।
सर्वशास्त्रसमालोकी ह्येष साधुस्स लेखकः।।

उपर्युक्त लेखकीय गुण प्रायः राजाश्रित लेखक (कायस्थ) में काम्य होते हैं और उन्हें एक नियत अनुशासन में रहते हुए राजकीय विनिश्चयों को लेख बद्ध करना होता है। किन्तु सामान्यतया अन्य श्रेणी के लेखकों के सम्बन्ध में भी इन गुणों की अपेक्षा की जा सकती है।

४. लेखक में एकाग्रता का अभाव – श्रुत लेख अथवा दृष्ट लेख, दोनों प्रकार के लेखकों में एकाग्रता होनी चाहिए। लेखक में एकाग्रता के अभाव से पाठदोष होना स्वाभाविक है। यह पाठ दोष कई प्रकार का हो सकता है। कभी-कभी पूरा शब्द, वाक्य, या पङ्क्ति ही छूट जाती है। कभी-कभी ऊपर की पंक्ति नीचे और

नीचे की पंक्ति ऊपर भी हो सकती है। शब्दों के वर्णविन्यास में त्रुटि हो सकती है। यथा– 'लड़की' के स्थान पर 'लकड़ी', 'कमल' के स्थान पर 'कलम' इत्यादि वर्ण-व्यत्यय-जन्य पाठ-दोष आ जाते हैं। शब्दों में कोई वर्ण (अक्षर) छूट सकता है। किसी शब्द में अनावश्यक अतिरिक्त वर्ण लिखा जाता है। कोई शब्द अधूरा रह सकता है। किसी शब्द के स्थान पर असम्बद्ध दूसरा ही शब्द लिखा जाता है। यथा– 'अनृत' के स्थान 'अमृत', 'गाय' के स्थान पर 'काय' 'चाय, 'हाय' इत्यादि। ऐसे लिखित दुष्ट पाठों के कारण उचित अर्थसङ्गति लगानी कठिन हो जाती है। अतः दृष्ट लेख में लेखक की दृष्टि सजग होनी चाहिए। इसी प्रकार, भ्रान्त श्रवण से भी पाठ दोष आता है। अतः लेखक श्रुतलेख लिखते समय अपनी श्रवणेन्द्रिय को सदैव सतर्क रखे। साथ ही, बोलने वाले को भी स्पष्ट और शुद्ध उच्चारण करना चाहिए। 'नीम पर करेले' वाली कहावत तब चरितार्थ होती है जब लेखक अल्पज्ञ और विकल श्रवणेन्द्रिय वाला हो और बोलकर लिखवाने वाले का उच्चारण स्पष्ट और शुद्ध न हो। ऐसी स्थिति में 'घर्म' के स्थान पर 'धर्म' (अथवा, 'धर्म' के स्थान पर 'घर्म' तथा 'तैंतीस' के स्थान पर 'पैंतीस' या 'सैंतीस' लिखा जाता है। 'श्वसुर' का 'स्वशुर' हो जाना सामान्य बात है।

५. लिपिकार (लेखक) की अहम्मन्यता – अपने पाण्डित्य के सम्बन्ध में लिपिकार (लेखक) की अहम्मन्यता भी पाठभेद का प्रमुख कारण होती है। यदि लिपिकार विद्वान् है और अपने को बहुत विद्वान् मानता है तो उसके द्वारा प्रतिलिपीकृत ग्रन्थ में पाठ भेद होना स्वाभाविक है। लिपिकार को किसी भी ग्रन्थ (चाहे वह सामान्य कोटिक हो, अथवा उच्च कोटिक) की प्रतिलिपि करते समय अपने वैदुष्य किं वा, पाण्डित्य के अहं भाव को नियंत्रित रखना चाहिए। जैसे सैनिक को आदेश पालन का अनुशासन रखना पड़ता है न कि आदेश की विवेचना का अधिकार, वैसे ही एक लिपिकार को ग्रन्थ के मूलपाठ की रक्षा करनी चाहिए न कि उसके सम्बन्ध में सीमा के बाहर जाकर विवेचन और परिवर्तन। यदि सैनिक हद दर्जे का विवेचक हो जायेगा तो अनुशासन की मर्यादा तो टूटेगी ही, अनेक समस्यायें भी पैदा होंगी। इसी प्रकार, लिपिकार भी हद दर्जे का विवेचक नहीं होना चाहिए। सामान्य सोच-विचार तो उचित है किन्तु मूल ग्रन्थ के साथ मनमाना खिलवाड़ नहीं। सदैव विवेक और संयम से लेखन में प्रवृत्त होना चाहिए। किन्तु अन्य की अपेक्षा कुछ अलग करने या दिखने का पूर्वाग्रह तथाकथित विद्वानों के अन्दर पाया जाता है। इस कोटि में ग्रन्थों के भाष्यकार, टीकाकार अथवा व्याख्याकार भी आते हैं जो मूल पाठ के

स्थान पर स्वयंकल्पित पाठ रखकर कोई अर्थवैचित्र्य उत्पन्न करके अपने पाण्डित्य का प्रदर्शन करने के लिए उत्सुक तथा लालायित रहते हैं। यही कारण है कि स्वतंत्र लिपिकारों की अपेक्षा ग्रन्थ के टीकाकार अधिक पाठ भेद प्रदर्शित करते हैं। वस्तुतः ऐसे टीकाकार 'सहृदय' नहीं होते। मूल पाठ की रक्षा के लिए लिपिकार अथवा टीकाकार को सहृदय होने के साथ ही निर्लोभ ईमानदार होना चाहिए। कुछ कविबुद्धि लिपिकार और टीकाकार स्वनिर्मित पद्य या गद्यांश भी मूल ग्रन्थ में स्थान देखकर सन्निविष्ट (प्रक्षिप्त) कर देते हैं। यही कारण है कि लघुकाय ग्रन्थ 'मेघदूत' पाठ भेद और प्रक्षेप की समस्या से अतिशय ग्रस्त है।

६. ग्रन्थ की लोकप्रियता – जो ग्रन्थ अपने साहित्यिक सौन्दर्य और उच्च गुणवत्ता के कारण जितना ही अधिक लोकप्रिय होता है, वह उतना ही अधिक पाठ भेद तथा प्रक्षेप से दूषित हो जाता है। इसमें लिपिकारों और टीकाकारों का योगदान तो रहता ही है, कभी-कभी अस्थिर चित्त रचनाकार भी अपनी कृति को उत्कृष्टतर/तम तथा अधिकाधिक प्रभावी बनाने के मोह में समय-समय पर उसमें परिवर्तन-परिवर्धन करते रहते हैं। महाकवि कालिदास की रचनओं में पाठ भेद और प्रक्षेप के आधिक्य में उनकी लोकप्रियता भी एक कारण है।

७. कीटानुविद्धता या पाण्डुलिपि का क्षतिग्रस्त होना – पाठ भेद का यह भी एक कारण है। कीटानुविद्ध या क्षतिग्रस्त पाण्डुलिपि की प्रतिलिपि करते हुए प्रतिलिपिकार यथामति उन शब्दों या वर्णों की योजना करता है और यह नया पाठ ग्रन्थ के मूल पाठ से भिन्न हो सकता है। यथा– सदयो याति – सद्यो भाति। प्रखरः – प्रवरः। अभिज्ञान – अभिमान। प्रयोगः – प्रयागः। लवनम् – वनम्। इत्यादि।

जिस तरह संस्कृत ग्रन्थों में पाठ भेद की समस्या है, उसी तरह प्रक्षेप (Interpolation) की भी समस्या है। ये दोनों ही समस्याएँ गद्यात्मक ग्रन्थों में कम और पद्यात्मक ग्रन्थों में अधिक होती हैं। एक पद्य में एक अथवा अनेक शब्दों को परिवर्तित कर देना पाठभेद कहलाता है जिसके कारणों का उल्लेख अभी-अभी किया गया है। ये पाठभेद मूलपाठ से मिलते-जुलते हैं। यथा– प्रथम-प्रशम, प्रपन्न-प्रसन्न, जग्ध्वा-दग्ध्वा, प्रसार-प्रभार-प्रकार इत्यादि। मूलपाठ की जगह नये पाठ की योजना सहसा नहीं हो जाती अपितु बुद्धिपूर्वक (सोच समझकर) की जाती है ताकि वे आसानी से पकड़ में न आयें। दूसरी विशेषता है कि वे पद्य के प्रतिपाद्य के अनुरूप प्रयुक्त होते हैं। साथ ही, यह भी ध्यातव्य है कि मूलपाठ के स्थान पर रखे गये 'नकली पाठ' से छन्दोभङ्ग भी नहीं होता है। पाठभेद करने में लिपिकार अथवा,

टीकाकार का प्रमाद उतना कारण नहीं है जितना कारण उसका '**प्रज्ञापराध**' (जान बूझ कर की गयी कुचाल)। मूलग्रन्थकार से भावात्मक तादात्म्य स्थापित करने में समर्थ सहृदय अध्येता, उसकी भाषा–शैली से सुपरिचित होकर मूलपाठ की गवेषणा कर ही लेते हैं और पाठभेद को नकार देते हैं।

किसी ग्रन्थ में प्राप्त होने वाले प्रक्षेप (प्रक्षिप्त पद्य) निश्चय ही कौतुकी कवियों की करामात हैं। ऐसे कवि (जो टीकाकार भी हो सकते हैं) मूल रचनाकार के भाव और भाषा का आश्रय लेकर वर्णित प्रसङ्गों में अवसर देखकर समान छन्द में निर्मित अपने पद्य/पद्यों को स्थापित कर देते हैं। परम्परया प्रतिलिपिकार गतानुगतिकन्याय से ऐसे पद्यों को भी मूलग्रन्थ के अन्तर्गत समाहित कर लेते हैं। किसी मूलपद्य के पाठों से खिलवाड़ (उसमें शब्दक्रीड़ा, अपनी रुचि के अनुसार वर्ण या शब्द परिवर्तन) 'पाठभेद' कहा जाता है जबकि मूलपद्य के साथ, उसके समानान्तर नवीन पद्य खड़ा कर देना 'प्रक्षेप' कहा जाता है। पाठभेद में किसी पद या पाद (चरण) को सर्वथा परिवर्तित कर दिया जाता है किन्तु प्रक्षेप में मूलपद्य या पद्यों को कोई क्षति न पहुँचाते हुए सर्वथा नवीन पद्य/पद्यों का समावेश कर दिया जाता है। इससे रचना के मूल पद्यों को कोई हानि नहीं पहुँचती किन्तु मूल रचना (ग्रन्थ) का स्वरूप विकृत हो जाता है। प्रक्षेप, प्रायः मूल रचनाकार की श्रेणी में आने की चेष्टा और अपने कवित्व की प्रभावशालिता प्रदर्शित करने के लोभ तथा आत्मतुष्टि का अनुभव करने के प्रयास के कारण होते हैं। मेघदूत में पाठभेदों और प्रक्षेपों की बहुलता है। समस्त लौकिक संस्कृत साहित्य इस समस्या से आक्रान्त है। रामायण और महाभारत में अध्याय के अध्याय प्रक्षिप्त हैं। पुराणों में भी यह समस्या है। लौकिक संस्कृत साहित्य के ग्रन्थों से पाठभेदों और प्रक्षेपों की पहचान कर उन्हें अलग करना– एक गहन शोध का विषय है। विद्वान् इस दिशा में निरन्तर सचेष्ट हैं।

(ख) पाठालोचन के सिद्धान्त

किसी भी ग्रन्थ का प्रामाणिक संस्करण तैयार करने की प्रक्रिया में 'पाठालोचन' अनिवार्य होता है। उस ग्रन्थ की उपलब्ध पाण्डुलिपियों की परस्पर तुलनात्मक समीक्षा करके मूलपाठ की खोज करना अथ च, सर्वशुद्ध पाठ का निर्धारण करना 'पाठालोचन' कहा जाता है। कोई भी रचना (ग्रन्थ अथवा कृति) अपने मूलरूप में (प्रारम्भिक स्थिति में) केवल एक ही होती है। उसे 'मातृका' कहते हैं। इसे रचनाकार स्वयं लिखकर (या स्वयं बोलकर लिखवाने के द्वारा) तैयार करता है। आगे चलकर आवश्यकतानुसार उसकी प्रतिलिपि/प्रतिलिपियाँ की जाती थीं। आज

भी, लेखक द्वारा तैयार किया गया ग्रन्थ (चाहे हस्तलिखित अथवा टङ्कित) प्रेस कापी (Press Copy) कहा जाता है। हस्तलिखित मातृका और प्रतिलिपि कालान्तर में 'पाण्डुलिपि' की कोटि में परिगणित होने लगती हैं।

पाठालोचन की आवश्यकता तब होती है जब विद्वान् सम्पादक की दृष्टि में पाण्डुलिपि में दोष हों, पाठों में भिन्नता हो अथवा पाठ असङ्गत हो। पाठदोषों या पाठभेदों के कारणों पर पूर्वतः प्रकाश डाला जा चुका है।

भारतवर्ष में पाठलोचन की प्रक्रिया अतिप्राचीन काल से चली आ रही है। अधिकांश वैदिक संहिताओं के **प्रातिशाख्य** मिलते हैं। संहिताओं के लिखित परम्परा में आने से पूर्व श्रुतिपरम्परा (अथवा मौखिक परम्परा) काल से प्रातिशाख्यों की व्यवस्था (निर्माण) हो चुकी थी और वे भी उस समय मौखिक रूप में ही अस्तित्व में थे। गुरु–शिष्य सम्प्रदाय भेद से मंत्र प्रवचन क्रम में उच्चारण भेद होने से संहिताओं में 'शाखा भेद' उत्पन्न हुआ। शाखाभेद के मूलतः तीन कारण हैं– मंत्रों के उच्चारण, विनियोग और पौर्वापर्य। इन तीनों का प्रदर्शन और नियमन करने वाले को 'प्रातिशाख्य' कहा गया जिसकी व्युत्पत्ति है– 'शाखायां शाखायाम् इति प्रति शाखम्। तत्र प्रतिशाखं भवं प्रातिशाख्यम्' अर्थात् जो वेद (संहिता) की प्रत्येक शाखा में व्याप्त हो, वह है 'प्रतिशाख' और प्रतिशाख से सम्बद्ध (नियामक) जो शास्त्र है, वह है 'प्रातिशाख्य'। इस प्रकार, शाब्दिक व्युत्पत्ति ही प्रमाणित करती है कि प्रातिशाख्य वस्तुतः पाठालोचन का शास्त्र है। 'निरुक्ति' की प्रक्रिया भी पाठ निर्धारण में सहायता करती है। अतः प्रातिशाख्य और निरुक्त को हम पाठालोचन में सहायक मान सकते हैं जो हमारे यहाँ अतिप्राचीन काल से ही प्रवर्तित हैं।

पाठालोचन के मुख्यतः तीन सिद्धान्त हैं– १. तुलनात्मक पाठनिर्धारण सिद्धान्त, २. स्वैच्छिक पाठनिर्धारण सिद्धान्त और ३. शास्त्रीय पाठनिर्धारण सिद्धान्त।

१. तुलनात्मक पाठनिर्धारण सिद्धान्त – इस सिद्धान्त का आश्रय लेकर उस ग्रन्थ के विवादित अथवा, परिवर्तनीय पाठ की समीक्षा एवं निर्धारण किया जाता है जिसकी कई पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध हों। तुलनात्मक पाठालोचन के लिए न्यूनतम दो पाण्डुलिपियाँ तो होनी ही चाहिए। मात्र एक पाण्डुलिपि होने पर वहाँ यह सिद्धान्त लागू न हो सकेगा। वहाँ स्वैच्छिक अथवा शास्त्रीय सिद्धान्त लागू हो सकते हैं।

ग्रन्थ की कई पाण्डुलिपियाँ होने पर विद्वान् सम्पादक/समीक्षक प्राप्त भिन्न पाठों की तुलनात्मक समीक्षा करता है और उपलब्ध पाठान्तरों की गुणदोष के आधार पर तटस्थ समीक्षा करता है। वह कृति की प्रकृति और कृतिकार के स्वभाव

की अपेक्षा का सम्यग् विचार कर, पाठभेद-स्थल में प्रसङ्ग प्राप्त अर्थ के औचित्य का ध्यान रखते हुए अपने अनुभव के आधार पर एक श्रेष्ठ पाठ का चयन कर उसे स्थापित करता है।

पाठ-शोधन में समीक्षक यह भी देखता है कि उपलब्ध पाण्डुलिपियों में समीक्ष्य पाठ का कौन सा विकल्प अधिसंख्यक है। यदि समीक्ष्य पाठ के दो से अधिक विकल्प प्राप्त होते हैं, तो प्रत्येक विकल्प का औचित्य और सम्भावना का परीक्षण करना चाहिए। उदाहरण के लिए, मेघदूत की चालीस से अधिक टीकाएँ उपलब्ध हैं और उनकी शताधिक पाण्डुलिपियाँ प्राप्त होती हैं।[१७] मेघदूत में पाठान्तरों की भरमार है। इसमें, इसकी लोकप्रियता, टीकाओं की बहुलता, टीकाकारों का पाण्डित्य प्रदर्शन और लिपिकारों का प्रमाद मुख्य कारण हैं। मेघदूत का प्रामाणिक संस्करण तैयार करने में पाठनिर्धारण हेतु तुलनात्मक सिद्धान्त की ही शरण में जाना पड़ता है। डॉ. एस.के. दे, आचार्य रेवा प्रसाद द्विवेदी प्रभृति विद्वानों ने इस सम्बन्ध में प्रशंसनीय प्रयास किये हैं तथापि अभी तक इस दूतकाव्य का सर्वमान्य सर्वशुद्ध (मूलपाठ वाला) संस्करण नहीं बन पाया। अन्य तमाम पाठभेदों को तो छोड़िए, एक ही पाठभेद- 'आषाढस्य **प्रथम/प्रशम** दिवसे' का कोई सर्वमान्य समाधान नहीं निकल सका है। कविकृत मूलपाठ **प्रथम** है या **प्रशम**, इसका निश्चय नहीं हो पा रहा है क्योंकि तुलनात्मक सिद्धान्त में स्वैच्छिक सिद्धान्त भी घुसा हुआ है। अनेक पाठभेदों में उपलब्ध अधिसंख्यक पाठ को महत्त्व देना चाहिए।

तुलनात्मक पाठालोचन के सिद्धान्त का आश्रय लेकर दोनों आर्ष महाकाव्यों के प्रामाणिक संस्करण तैयार किये गये हैं। भण्डारकर प्राच्य शोध संस्थान, पुणे द्वारा महाभारत और बड़ौदा विश्वविद्यालय द्वारा रामायण का पाठशोधन करके उनका प्रामाणिक समीक्षात्मक संस्करण (Standard Critical Edition) प्रकाशित किया गया है। पाठान्तरों की सूचना पाद टिप्पणियों में दी गयी है। आचार्य रेवा प्रसाद द्विवेदी ने अकेले ही 'कालिदास ग्रन्थावली' का पाठशोधन पुरस्सर प्रामाणिक संस्करण तैयार करके प्रकाशित कराया है।

२. स्वैच्छिक पाठ निर्धारण सिद्धान्त - इस सिद्धान्त में 'स्वेच्छा' का अर्थ 'मनमानी' कथमपि नहीं है। 'स्वैच्छिक' का तात्पर्य 'स्वविवेकपूर्वक' है। यदि स्वैच्छिक का अर्थ मनमानीपूर्वक किया जायेगा तो मूलपाठ की गवेषणा ही संशयग्रस्त

१७. मेघदूतम् (अष्टव्याख्याविभूषितम्), प्रस्तावना, कालिदास संस्कृत अकादमी, उज्जैन (म.प्र.), २००९ ई.।

हो जायेगी। पाठालोचन औंधे मुँह गिर पड़ेगा।

यद्यपि तुलनात्मक पाठ निर्धारण में भी पाठालोचक विद्वान् की स्वेच्छा प्रभावी होती है किन्तु उस स्वेच्छा में औचित्य सन्निविष्ट रहता है। वस्तुतः स्वैच्छिक पाठनिर्धारण का सिद्धान्त मुख्यतः उस ग्रन्थ के सम्बन्ध में लागू होता है (अपनाया जाता है) जिसकी मात्र एक ही पाण्डुलिपि/प्रतिलिपि उपलब्ध हो। ऐसी स्थिति में मूलपाठ निर्धारण का कोई अन्य उपाय नहीं हो सकता सिवाय इसके कि विद्वान् सम्पादक/समीक्षक स्वतः विवेकपूर्वक पाठालोचन करे। ग्रन्थ की एक ही पाण्डुलिपि उपलब्ध होने पर उसके सम्पादन में पाठनिर्धारण का अवसर तभी आता है जब- (क) वह पाण्डुलिपि खण्डित हो (उसके एक या अनेक पृष्ठ लुप्त हों); (ख) पाण्डुलिपि पूर्ण होने पर भी उचित संरक्षण के अभाव में विकृत हो (सीलन आदि से लिखावट प्रभावित हो, लिखावट अपाठ्य हो, स्याही फैल गयी हो अथवा कीटानुविद्ध हो = जगह-जगह कीड़े खा गये हों और इससे अक्षर या शब्द कटे-पिटे हों); (ग) पाठभ्रष्टता हो (लिखित पदों से पदार्थज्ञान में क्लिष्टता हो, अर्थसङ्गति न लग रही हो, अनौचित्य हो इत्यादि। उपर्युक्त स्थितियों के चलते ग्रन्थांश लेखन, पाठ पूरण और पाठनिर्धारण की समस्या आती है। विषय का अधिकारी विद्वान् ऐसे ग्रन्थ के सम्पादन में स्वेच्छया प्रवृत्त होता है। स्वाभाविक है कि यहाँ स्वैच्छिक पाठालोचन का सिद्धान्त ही लागू होगा।

स्वैच्छिक पाठनिर्धारक विद्वान् को ग्रन्थगत विषय का परिज्ञाता होने के साथ ही अन्य व्याकरणादि शास्त्रों का भी विज्ञ होना चाहिए। उसे पूर्वाग्रह और दुराग्रह से मुक्त होना चाहिए। अपने वैदुष्य या पाण्डित्य के प्रति अहम्मन्य नहीं होना चाहिए।[१८] उसे सत्यवादी, ईमानदार, निर्लोभ और द्वेषरहित होने के साथ ही मिथ्याहङ्कार से मुक्त भी होना चाहिए। उसे विवेकयुक्त, सद्विचारक, सद्भावयुक्त तथा पवित्र आचरण वाला होना चाहिए। यदि ऐसा पाठालोचक किसी ग्रन्थ का स्वैच्छिक पाठ निर्धारित करता है तो वह पाठ उचित, प्रामाणिक और असन्दिग्ध होगा। ऐसा निर्धारित पाठ या तो मूलपाठ ही होगा अथवा मूलपाठ के अतिसन्निकट होगा। स्वैच्छिक पाठनिर्धारक को 'सहृदय'[१९] होना चाहिए। निर्णय सागर प्रेस, मुम्बई के

१८. एकोऽहं पण्डितो विद्वान् द्वितीयस्तु ममानुजः।
अर्धे तिष्ठति मे भार्या शेषाः दर्दुरवायसाः।।

१९. 'येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद्विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते स्वहृदयसंवादभाजः सहृदयाः।' - ध्वन्यालोकलोचन, १/१.

पाठशोधक पं. के.पी. परब और पं. दुर्गाप्रसाद शास्त्री ऐसे ही विद्वान् थे। अपने विशुद्ध पाठों के कारण ही ग्रन्थों के निर्णय सागर संस्करण प्रामाणिक माने जाते हैं। दुर्भाग्य है संस्कृत जगत् का कि न तो अब वैसे पाठशोधक हैं और निर्णयसागर मुद्रणालय भी बन्द हो गया। अनेक प्रकाशन संस्थायें निर्णयसागर संस्करण वाले ग्रन्थों को फोटो विधि से पुनर्मुद्रित Reprint कर रही हैं।

लोकप्रिय संस्कृत काव्यों के बहुसंख्यक संस्कृत टीकाकारों ने स्वैच्छिक-पाठ निर्धारण में अपने पाण्डित्य की शेख़ी बघारने के लिए निरङ्कुश स्वेच्छा अर्थात् मनमानी की है। ऐसे इन टीकाकारों की इस स्वेच्छाचारिता और पाण्डित्यप्रदर्शन की लोभवृत्ति के कारण ही इतने ढेर सारे पाठभेद पाठकों के समक्ष समस्या बनकर खड़े हैं। मुझे लगता है कि इन टीकाकारों किं वा लिपिकारों ने कवि के मूलपाठ की परवाह न करते हुए 'यथाऽस्मै रोचते...' न्याय से ग्रन्थ-पाण्डुलिपि के मूलपाठों को मनमाने ढंग से परिवर्तित कर दिया क्योंकि ऐसा करना उन्हें (स्वयं को) अच्छा लगा और इसी ब्याज से वह अपना पाण्डित्य प्रदर्शन कर सके तथा मूल लेखक से भी दो हाथ आगे बढ़ने के आनन्द से स्वयम् अपनी पीठ थपथपा सके।

स्वैच्छिक पाठ निर्धारण में पाठलोचक विद्वान् लेखनगत त्रुटियों और व्याकरणात्मक अशुद्धियों का परिमार्जन करके ग्रन्थ को विशदता प्रदान करता है तो यह एक सकारात्मक प्रयत्न है किन्तु अपनी पसन्द-नापसन्द के अनुसार ग्रन्थकार के मूलपाठ को ही छद्मपदों के द्वारा परिवर्तित करता है, तो यह उसका 'प्रज्ञापराध' माना जायेगा। हाँ, यदि स्वेच्छया परिवर्तन किये गये पाठ उत्कृष्ट हों, ग्रन्थ के सौन्दर्याधायक हों तो उसे पाठक स्वीकार कर सकते हैं किन्तु निकृष्ट पाठ, जो ग्रन्थ की विषयवस्तु के सापेक्ष असङ्गत हों, तो पाठालोचक का यह कृत्य निन्द्य ही कहा जायेगा।

कुछ आचार्यों ने अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों तथा कुछ टीकाकारों (मल्लिनाथ प्रभृति) ने अपनी टीकाओं में पाठभेदों का उल्लेख करके उपयुक्त पाठ का निर्धारण (सङ्केत) किया है। यदि ऐसे स्वैच्छिक सिद्धान्त के अनुपालन से सुझाये गये पाठ समुचित और शास्त्रसम्मत हैं तो निश्चय ही सहृदय अध्येता उनका स्वागत करेगा। ऐसा ही एक सहृदयग्राह्य पाठभेद कालिदासकृत कुमारम्भव के एक श्लोक में (५/७१) आचार्य कुन्तक ने अपने 'वक्रोक्तिजीवित' में प्रदर्शित करके विमर्श किया है। श्लोक इस प्रकार है-

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः।
कला च सा चान्द्रमसी कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी।।

यहाँ मूलश्लोक में द्वितीय पाद के अन्त में आये हुए 'कपालिनः' पद का पाठान्तर '**पिनाकिनः**' भी प्राप्त होता है। **कपाली** (कपालिन्) का अर्थ है- कपाल (मुण्ड) की माला पहनने वाला अथवा कपाल (खप्पर = मानव खोपड़ी) रूप भिक्षापात्र रखने वाला। **पिनाकी** (पिनाकिन्) का अर्थ है 'पिनाक' नामक धनुष धारण करने वाला।

यहाँ आचार्य कुन्तक ने 'कपालिनः' पाठ को ही औचित्यपूर्ण अतः उत्तम और स्वीकार्य माना है क्योंकि श्लोकगत कवि के भाव की सम्पुष्टि और सौन्दर्य वृद्धि 'कपालिनः' पाठ से हो रही है न कि 'पिनाकिनः' पाठ से। चन्द्रमा की कला और लोक की नेत्र कौमुदी पार्वती की शोचनीयता की निष्पत्ति तो कपालित्व से ही सङ्गत होती है, 'पिनाकित्व' से तो कथमपि नहीं। अतः औचित्य की दृष्टि से 'कपालिनः' पाठ ही कवि का अभिप्रेत मूल पाठ है और सर्वजन ग्राह्य है न कि 'पिनाकिनः।' शोचनीयता 'पिनाकी' के साथ अन्वर्थ नहीं होगी, वह तो 'कपाली' के साथ ही अन्वर्थ होगी। यहाँ इस पद्य का मूल स्वर 'जुगुप्सा' है, न कि 'वीरता' या 'पराक्रम'। ब्रह्मचारी तो निन्दा में प्रवृत्त होकर पार्वती को हतोत्साह कर रहा है, न कि प्रशंसा करके उसे अनुरक्त कर रहा है।

टीकाकार मल्लिनाथ ने मेघदूत (पूर्वमेघ) के द्वितीय श्लोक की अपनी सञ्जीवनी टीका में 'प्रथमदिवसे' के पाठान्तर 'प्रशमदिवसे' पर विमर्श किया है- "केचित् 'आषाढस्य प्रथमदिवसे' इत्यत्र 'प्रत्यासन्ने नभसि' इति वक्ष्यमाणनभोमास-प्रत्यासत्यर्थं 'प्रशमदिवसे' इति पाठं कल्पयिन्त। तदसङ्गतम्। प्रथमातिरेके कारणाभावात्। नभो मासस्य प्रत्यासत्यर्थमित्युक्तमिति चेन्न। प्रत्यासत्तिमात्रस्य मासप्रत्यासत्त्यैव प्रथमदिवसस्याप्युपपत्तेः।...सुष्ठूक्तं 'प्रथमदिवसे' इति।। इस प्रकार, मल्लिनाथ ने पाठान्तर निरस्त कर 'प्रथमदिवसे' को ही मूलपाठ स्वीकार किया है।

इसी प्रकार, मेघदूत (पूर्वमेघ) चतुर्थ श्लोक में आये हुए 'प्रत्यासन्ने मनसि' पाठान्तर को निरस्त कर 'प्रत्यासन्ने नभसि' को ही मूलपाठ माना है।

स्वैच्छिक पाठनिर्धारण में आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र की एक कारिका में हुए विध्यात्मक परिवर्तन (संयोजन) के कारण रस संख्या विषयक मान्यता को एक नवीन आयाम मिल गया। नाट्यशास्त्र की मूल कारिका है-

शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः।। (६/१६)

सम्भवतः भरत (नाट्यशास्त्र) के एक टीकाकार आचार्य भट्टोद्भट ने

उपर्युक्त कारिका की द्वितीय पङ्क्ति में स्वैच्छिक परिवर्तन करके उसे इस प्रकार कर दिया- 'बीभत्साद्भुतशान्ताश्च नाट्ये नवरसाः स्मृताः।।' इस पाठ परिवर्तन (परिवर्धन) ने नाट्यशास्त्र (अथ च, काव्यशास्त्र) के क्षेत्र में एक अपूर्व क्रान्ति ला दी। अभिनवभारतीकर्ता आचार्य अभिनवगुप्त ने इसे अपनी स्वीकृति प्रदान कर शान्तरस की प्रतिष्ठा की। यद्यपि धनञ्जय धनिक आदि कुछ आचार्य नाट्य में शान्तरस की अनभिनेयता बताकर उसे नवम रस मानने के विरुद्ध थे किन्तु अभिनवगुप्त ने रामायण और महाभारत का अङ्गीरस 'शान्त' सिद्ध करके इस मान्यता को पुष्ट किया। आचार्य क्षेमेन्द्र ने भी इसका समर्थन किया और आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में- 'निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः' कहकर शान्तरस को नवम रस के रूप में दृढ़तापूर्वक प्रतिष्ठित कर दिया।

इस प्रकार, स्वैच्छिक पाठनिर्धारण में सुविचारित शास्त्रीय दृष्टि हो तो स्थापित किये गये पाठ ग्राह्य एवम् उपादेय हो जाते हैं।

(ग) शास्त्रीय पाठ निर्धारण सिद्धान्त - वस्तुतः शास्त्रीय पाठनिर्धारण सिद्धान्त (पाठनिर्धारण का शास्त्रीय सिद्धान्त) कोई सर्वथा पृथक् सिद्धान्त नहीं है। यह सिद्धान्त तो पूर्वोक्त दोनों सिद्धान्तों में अनुस्यूत है। फिर इसे अलग से कहने की आवश्यकता क्यों आ पड़ी? वह इसलिए कि निर्धारित पाठ असन्दिग्ध, उत्तम, शुद्ध और सर्वग्राह्य हो। 'शास्त्र' शब्द स्वयं में प्रामाणिकता, शुद्धता और अनवद्यता का वाचक होने के साथ ही 'श्रद्धेय' होता है। भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में स्वयं कहा है-

''तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि।।''

अतः पाठनिर्धारण चाहे तुलनात्मक हो अथवा, स्वैच्छिक, वह शास्त्रसम्मत ही होना चाहिए।

उचित (मूल) पाठनिर्धारण हेतु ग्राह्य उपाय

१. तत्त्वपरक तुलनात्मक दृष्टि - इसे हम मूल की गवेषणा में शास्त्रीय या शास्त्रपरक तुलनात्मक दृष्टि भी कह सकते हैं। अभीष्ट ग्रन्थ की अनेक पाण्डुलिपियों के उपलब्ध होने पर पाठभेदों पर विचार करना (एक ही पाण्डुलिपि के मुकाबले) अधिक आसान होता है। वहाँ विद्वान् को सम्यग् विचार करने का अधिक अवसर रहता है। इस तुलनात्मक विवेचन के आधार पर निर्धारित पाठ विश्वसनीय तथा प्रमाणसम्मत अर्थात् शास्त्रसम्मत होता है। यथा-

नमोऽस्तु सर्वदेवेभ्यो द्विजातिभ्यः शुभं तथा।
जितं सोमेन वै राज्ञा शिवं गोब्राह्मणाय च।। (नाट्यशास्त्र, ५/१०७)

नाट्यशास्त्र की दो पाण्डुलिपियों में तृतीय पाद में आये हुए पाठ 'सोमेन' के स्थान पर 'सामेन' पाठान्तर प्राप्त होता है। अब यहाँ तत्त्वपरक (शास्त्रीय) दृष्टि से पाठविमर्श करके उचित पाठ का निर्धारण करना होगा-

(क) अधिकांश ग्रन्थों (पाण्डुलिपियों) में 'सोमेन' पाठ है।

(ख) मात्र दो पाण्डुलिपियों में 'सामेन' पाठ है।

(ग) 'साम' (सामन्) शब्द की अर्थसङ्गति नहीं लग पा रही है।

(घ) 'सामन्' शब्द व्यञ्जनान्त है और नपुंसक लिंग है। अतः तृतीया विभक्ति एकवचन में इसका रूप बनेगा- 'साम्ना' न कि 'सामेन'। अतः यह पाठान्तर व्याकरणदृष्ट्या अशुद्ध है। ऐसा अशुद्ध प्रयोग आचार्य भरत द्वारा कथमपि नहीं किया जा सकता।

(ङ) 'सामेन' (साम्ना) के साथ 'राज्ञा' विशेषण पद असङ्गत है। सोम (= चन्द्रमा) को ब्राह्मणों का राजा कहा गया है-

''सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा।''

अतः शुद्ध (मूल) पाठ 'सोमेन' ही है।

सम्भावना की जा सकती है कि लिपिकार के प्रमाद/त्रुटिवश 'सो' के स्थान पर 'सा' लिखा गया हो। अथवा, किसी कारणवश 'ो' में ऊपर का अंश मिट गया हो और 'सोमेन' विकृत होकर 'सामेन' (भ्रष्टपाठ) रह गया हो।

२. अखण्ड दृष्टि - आलोच्य पाठ को समग्र ग्रन्थ के सापेक्ष देखना चाहिए न स्थानीय दृष्टि से। यह सर्वेक्षण करना चाहिए कि उक्त पाठ (शब्द) उस ग्रन्थ में कितनी बार प्रयुक्त हुआ है? उस शब्द का प्रयोग एक ही अर्थ में हुआ है अथवा अनेक अर्थों में। यदि ग्रन्थ में कोई पाठ (शब्द) अनेकशः प्रयुक्त होता है तो इसका अभिप्राय है कि वह शब्द उस अर्थ में लेखक को अधिक प्रिय है। अतः ऐसे शब्दप्रयोग को दृष्टि में रखकर ही पाठालोचन करना चाहिए। उदाहरणार्थ- यदि किसी ग्रन्थ में 'लोचनगोचरीकृतः' पाठ कई बार आया है और उसी ग्रन्थ में इसी अर्थ में 'नयनगोचरीकृतः' पाठ भी एक-दो स्थानों पर मिलता है तथा यह पाठान्तर उक्त ग्रन्थ की अधिकांश पाण्डुलिपियों में नहीं है। ऐसी स्थिति में लेखक द्वारा मूलपाठ निश्चितरूप से 'लोचनगोचरीकृतः' ही है।

३. पूर्वाग्रह अथवा दुराग्रह से मुक्त निर्णय - पाठालोचक को चाहिए कि

वह तटस्थभाव से वैकल्पिक पाठों (पाठान्तरों) की ग्राह्यता पर सन्दर्भानुसार, देश और काल के अनुरोध से विचार करे। आलोच्य पाठ की ग्राह्यता अथवा अग्राह्यता का विचार करते समय उसे ग्रन्थ की प्रतिपाद्य विषयवस्तु, ग्रन्थकार की भाषाशैली के साथ ही उन वैकल्पिक पाठों के शास्त्रीय पक्ष पर भी दृष्टि डालनी चाहिए कि उन पाठों में से किनका शास्त्रीय (भाषाशास्त्रीय, सौन्दर्यशास्त्रीय, काव्यशास्त्रीय) पक्ष (महत्त्व) क्या है? कहीं ऐसा न हो कि परित्यक्त पाठ (पूर्वाग्रह/दुराग्रह के कारण) अधिक सुसङ्गत हो। आग्रहविशेष का स्वरूप ऐसा हो सकता है- (i) पाठ, मात्र इसलिए स्वीकार्य है कि मेरी अभिरुचि (पसन्द) का है।

(ii) पाठ, मात्र इसलिए स्वीकार्य है कि वह मेरी साम्प्रदायिक, धार्मिक, सामाजिक अथवा कौटुम्बिक आस्था के अनुकूल है।

(iii) पाठ, अन्य विद्वानों द्वारा अग्राह्य घोषित है और इसे स्वीकार कर अपने पाण्डित्य की धाक जमायी जा रही हो।

(iv) पाठ, स्वयं कल्पित है और इस पाठ को रखने से अपने वैदुष्य या प्रतिभा के अहङ्कार की तुष्टि हो रही है।

(v) मूलपाठ सहज बोधगम्य न होने पर सरल पाठ रख देना। उदाहरणार्थ अभिज्ञानशकुन्तल नाटक के नान्दीपद्य का चतुर्थ चरण इस प्रकार है-

'प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः।'

इसमें 'प्रपन्नः' के स्थान पर एक पाठान्तर 'प्रसन्नः' भी प्राप्त होता है। 'प्रपन्नः' की अपेक्षा 'प्रसन्नः' सहज बोधगम्य है। किन्तु कवि के भाव की परीक्षा करने पर 'प्रपन्नः' ही मूल (उचित) पाठ सिद्ध होता है।

(घ) अनुवर्ती निर्णयात्मक स्रोतों का उपयोग - पाठ निर्धारण करते समय अनुवर्ती निर्णयात्मक स्रोतों का सम्यक् परिशीलन करके उनका उपयोग करना चाहिए। औचित्य की दृष्टि से भी विचार करना चाहिए। उदाहरणार्थ- आचार्य मम्मट कृत काव्यप्रकाश की कारिका २ (काव्यं यशसेऽर्थकृते...।।) की वृत्ति में 'हर्षादेर्बाणादीनामिव धनम्' का एक पाठान्तर - 'हर्षादेर्धावकादीनामिव धनम्' प्राप्त होता है। प्रथम पाठ में प्रसिद्ध गद्यकार महाकवि 'बाण' का उल्लेख है और दूसरे में किसी 'धावक' नामक अज्ञात/अल्पज्ञात कवि/व्यक्ति/याचक का उल्लेख है। बाणभट्ट महाराज हर्षवर्धन के प्रिय पात्र और उनकी सभा के रत्न थे। हर्ष उनकी प्रतिभा, पाण्डित्य और कवित्व से प्रसन्न होकर उन्हें प्रभूत धनराशि पारितोषिक के रूप में दिया करते थे। ऐसा स्वयं बाणभट्ट कृत 'हर्षचरित' तथा अन्य ऐतिहासिक स्रोतों से

ज्ञात होता है। 'धावक' अविदितवृत्तान्त है। अतः अनुवर्ती (अथवा पूर्ववर्ती) स्रोतों के आधार पर 'हर्षादेर्बाणादीनामिव धनम्' ही उचित पाठ सिद्ध होता है।

(ङ) ग्रन्थकार की मूलभावना का आकलन - पाठनिर्धारण करते समय पाठालोचक को चाहिए कि वह प्रकृत ग्रन्थ के कर्ता की मूलभावना का सम्यग् आकलन कर उसे आदर देते हुए उसकी दृष्टि से उचित पाठ का निर्धारण करे। प्रयोक्ता चाहे जिस सिद्धान्त का अनुसरण कर रहा हो किन्तु मूलपाठ की गवेषणा में ऐसा ध्यान रखना नितान्त आवश्यक है। मनमाना पाठ थोपना उचित नहीं है। नाट्यशास्त्र (अध्याय ६) में आचार्य भरत ने व्यभिचारीभावों के परिगणन में 'निर्वेद' को प्रथम स्थान पर रखा है। आचार्य मम्मट ने भी काव्यप्रकाश (उल्लास ४) में ऐसा ही किया है। आचार्य भरत ने नाट्य में कदाचित् आठ ही रस माने थे। टीकाकार उद्भट ने मूलकारिका में परिवर्तन करके नवम रस के रूप में 'शान्त' को भी जोड़ दिया। किन्तु आचार्य मम्मट ने आचार्य भरत की मूलकारिका को काव्यप्रकाश में यथावत् उद्धृत करके 'अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः' ही कहा। उनकी यह भावना- 'शान्तोऽपि नवमो रसः' में 'अपि' के प्रयोग से स्पष्टतः अभिव्यक्त होती है।

प्राचीन संस्कृत-पाण्डुलिपियों की मुख्य विशेषताएँ

संस्कृत की प्राचीन पाण्डुलिपियों में कुछ ऐसी विशेषताएँ प्राप्त होती हैं जो प्रायः समान रूप से सभी पाण्डुलिपियों में होती हैं, चाहे वे पाण्डुलिपियाँ किसी भी लिपि में लिखी हों। ये विशेषताएँ उन पाण्डुलिपियों की अङ्गभूत होती हैं। ऐसी मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं-

१. पाण्डुलिपि का आधार और आकार चाहे जो भी हो, पत्रों में ऊपर-नीचे तथा अगल-बगल (बाँयें-दायें) पर्याप्त जगह (हाशिया) छोड़ी जाती है। बाँयें-दायें (लिखित अंश के दोनों ओर) दोहरी पंक्ति खींच कर सीमाङ्कन कर दिया जाता है।

२. पाण्डुलिपियों में पृष्ठाङ्कन न करके पत्राङ्कन किया जाता है अर्थात् पृष्ठों की संख्या न डालकर पत्रों की संख्या (No. of Folios) डालते हैं। संख्याङ्कन बाँयें या दायें भाग में ऊपर या नीचे किया जाता है। संख्या अङ्कों में (यथा- १,२,३...) लिखी जाती है न कि अक्षरों में।

३. पत्रे के एक ही ओर लेखन होता है और पृष्ठभाग प्रायः सादा छोड़ दिया जाता है। ऐसा अक्षरों की स्पष्टता और सुपाठ्यता के लिए किया जाता है क्योंकि कागज पर स्याही फैलने या उभड़ने की सम्भावना होती थी।

४. आवश्यकता पड़ने पर लिखित पृष्ठों पर छोड़ी गयी खाली जगहों में ग्रन्थ

के मूल अंश, जो प्रमाद या किन्हीं कारणों से छूट गये हैं, विशिष्ट सङ्केत चिह्न लगाकर लिख दिये जाते थे।

५. लेखन में अक्षरों के आकार में एक रूपता मिलती है तथा पंक्तिबद्धता भी। प्रायः प्रत्येक पृष्ठ की पंक्ति संख्या नियत होती थी और प्रतिलिपिकार अथवा, लेखक प्रयत्नपूर्वक प्रत्येक पंक्ति में अक्षरों की संख्या भी समान रूप से निश्चित रखता था। यथा- एक पृष्ठ पर आठ पंक्ति और प्रत्येक पंक्ति में चौबीस अक्षर।

६. यदि पाण्डुलिपि को पिनद्ध करना होता था (आर-पार छेद करके बीचोबीच धागे से गाँठ लगाकर बाँधना) तो बीच में गोलाकार स्थान छोड़ दिया जाता था। सुरुचिवान् लेखक वहाँ कोई पुष्पाकार रचना भी बना देते थे।

७. लिखावट एकरूप सघन होती थी और समस्त असमस्त सभी पदों को एक साथ सम्मिलित रूप से ही निरन्तर लिखा जाता था। वाक्यों के अन्त में पूर्णविराम का चिह्न (।) लगाया जाता था। पंक्ति में अन्यत्र कोई विराम चिह्न नहीं लगाया जाता था। पद्यात्मक पाण्डुलिपियों में द्वितीय चरण के अन्त में एक खड़ी लकीर (।) और चतुर्थ चरण के अन्त में अर्थात् पद्य की समाप्ति पर दो खड़ी लकीर (।।) खींची जाती थी और इसी के साथ पद्य-संख्या भी अङ्कों में लिखी जाती थी। यथा- ।।१।। इत्यादि।

८. लेखन का आरम्भ मङ्गल वाचक शब्द/शब्दों अथवा पद्य/पद्यों से किया जाता था। यह प्रतिलिपिकार का अपना उपक्रम होता था। मूलग्रंथकर्ता का मङ्गलाचरण तो अपनी जगह होता ही है। यथा-

।।श्री गणेशाय नमः।। शिवं तनोतु शिवयोरपत्यं यो गजाननः। विलोलितकरालोकसंभ्राम्यदगजाननः।।१।। प्रणम्य चरणे गौर्याः श्रीगंगाधरनन्दनः। जनार्द्दनः प्रतनुते मेघसंदेशदीपकम्।।२।। कलानिधि-मुखेषूच्चैरर्थात्रगतिहेतुषु। सतां किन्न व्यवहतिर्मत्प्रबन्धे प्रदीपवत्।।३।। प्रकाशकालिदासाख्यैर्मेघदूतघनोन्नतौ। अतिसारसवत्येषा जनार्द्दन-सरस्वती।।४।। मेघदूतमहाकाव्यघनार्थजलशायिन। कविपीतरसा भाति जनार्द्दनसरस्वती।।इत्यादि...।।

- (जनार्दन कृत मेघसन्देशदीपिका टीका का आरम्भ)

९. लेखक ग्रन्थलेखन की समाप्ति पर 'पुष्पिका' की योजना करते हैं। जिसमें वे प्रायः अपना नाम, पितृनाम, स्थान और लिपिकाल का उल्लेख करते हैं। यथा-

।।इति महाकविश्रीकालिदासविरचितं मंदाक्रांताछंदसा श्रीमेघदूताभिधानं काव्यं संपूर्णं जातम्।।श्रीःस्यात्।।रामः।। ।।संवत् चंद्रकलानवत्रिकमिते श्रीमेघदूते नद्ये मासेभाद्रपदे शुभोदयकरे चैकादशीवासरे। टीकेयं वरवाचकेनमहिमासिंहेन सत्साधिता शिष्याणां वरबुद्धिहर्षविजयादीनां कृते निर्मिता।।१।। जगद्वन्द्यो जगत्पूज्यो जगद्गुरुः। जगच्चक्षुर्जगत्त्राता भास्करो मेऽस्तु सौख्यदः।।२।। इतिश्रीमत्खतेरगच्छेव्युग-प्रधानश्रीजनदत्तसूरिसंतानीयश्रीशिवनिधानमहोपाध्यायशिष्य वाचानार्थमहिमासिंहगणिविरचिता श्रीमेघदूतकाव्यटीकासुखबोधिका-नाम्नीतिश्रेयः शुभकारिणी लेखकपाठकानां।। श्रीः स्यात्।। शुभं भवतु।। श्रीमेघदूताभिधं काव्यं समाप्तम् ग्रंथसंख्याश्लोक।।छ।। ।।छ।। ।।छ।।

(श्रीमहिमसिंहगणिकृत सुखबोधिकाख्य-मेघदूत टीका-पुष्पिका)

१०. पाण्डुलिपियों में कई प्रकार के संशोधन चिह्न लगे हुए प्राप्त होते हैं। यथा- छूटे हुए अंश के लिए '^'। यदि कोई पंक्ति छूट गयी है तो '*' अथवा संख्या आदि द्वारा चिह्नित कर उसे उसी पृष्ठ पर ऊपर, नीचे, दाँयें बायें कहीं खाली जगह पर लिख दिया जाता है।

अस्पष्टताबोधक चिह्न '卐' (स्वस्तिक) अथवा गोला, वृत्त या कुण्डल '0' प्रयुक्त किया जाता था। यदि मूल का कोई शब्द स्पष्ट नहीं हो रहा है तो उसे गोलाई में घेर दिया जाता था। इसे 'कुण्डलना' कहते हैं। इस अर्थ में कुण्डलना का प्रयोग श्रीहर्ष ने नैषधीयचरित, १/१४ में किया है।[२०]

११. प्रतिलिपिकार कभी-कभी मूलग्रन्थ की प्रतिलिपि करने के साथ ही टिप्पणियाँ भी लगाता था। मेघदूत की एक पाण्डुलिपि इस प्रकार की भी प्राप्त हुई है। लगता है ऐसा वह स्वयं बोध के लिए करता होगा।

प्रमुख पाण्डुलिपि ग्रन्थालय (सङ्ग्रहालय)

मानव सभ्यता के विकास क्रम में अभिव्यक्ति की साङ्केतिक और वाचिक परम्परा के पश्चात् लिपियों के अस्तित्व में आने से लिखित परम्परा भी प्रारम्भ हुई। मुद्रणकला के आविष्कार के पश्चात् भी हस्तलेखन की परम्परा आज भी चल रही है। सन्देशों (पत्रों), शिलालेखों, स्तम्भलेखों गुहालेखों, भित्तिलेखों के पश्चात् ग्रन्थलेखों

---

२०. तदोजसस्तद्यशसः स्थिताविमौ वृथेति चित्ते कुरुते यदा-यदा।
तनोति भानोः परिवेशकैतवात्तदा विधिः कुण्डलनां विधोरपि।।
('कुण्डलनां वैयर्थ्यसूचकं रेखामण्डलम्' - नारायणी टीका, तत्रैव)

का भी आरम्भ हुआ। जो गाथाएँ, धर्मसूत्र, काव्य आदि वाचिक परम्परा से लोकमें प्रचलित थे। वे शनैः-शनैः हस्तलेख केमाध्यम से ग्रन्थ का आकार लेने लगे। आगे चलकर उन ग्रन्थों के प्रचार-प्रसार हेतु उनके प्रतिलिपीकरण भी आरम्भ हुए और नानाविध प्रयोजनों के अनुसार एक ग्रन्थ की न जाने कहाँ-कहाँ, किनके द्वारा सहस्राधिक प्रतिलिपियाँ होने लगीं। मूलग्रन्थ (मातृका) और उनकी प्रतिलिपियाँ कालान्तर में 'पाण्डुलिपियाँ' कही जाने लगीं।

संस्कृत (प्राकृत-पालि आदि) भाषा में लिखी गयी पाण्डुलिपियाँ पण्डितों, साधुओं के व्यक्तिगत सङ्ग्रहों के अतिरिक्त मन्दिरों और मठों में भी संरक्षित हुआ करती थीं। किन्तु अंग्रेजों के शासनकाल में जब पाश्चात्त्य विद्वान् भारतीय (विशेषतः संस्कृत) वाङ्मय से परिचित हुए तो उनमें इस अमूल्य धरोहर के प्रति स्वाभाविक जिज्ञासा हुई और उन्होंने भारत आकर स्वतंत्र रूप से अथवा शासन के सहयोग से इन पाण्डुलिपियों की खोज और सङ्ग्रह प्रारम्भ किया। फलतः लाखों पाण्डुलिपियों का सङ्ग्रह भारत के विभिन्न भागों में हुआ तथा उनके व्यवस्थित सूचीपत्र तैयार किये गये। यहाँ प्रमुख पाण्डुलिपि सङ्ग्रहालयों (ग्रन्थालयों) तथा सूचीपत्रों (CATALOGUES) का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है जो प्राचीन वाङ्मय के शोध की दृष्टि से उपयोगी होगा।

संस्कृत-पाण्डुलिपि ग्रन्थालय

१. सरस्वती भवन ग्रन्थालय, वाराणसी - सरस्वती भवन ग्रन्थालय, संस्कृत पाण्डुलिपियों का एक महत्त्वपूर्ण विशाल सङ्ग्रहालय है। इसकी स्थापना काशी के कर्णघण्टा मुहल्ले में २८ अक्टूबर, सन् १९७१ ई. में प्रारम्भ की गयी बनारस पाठशाला के साथ एक ही भवन में की गयी। इसका श्रेय ईस्ट इंडिया कम्पनी के तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड कार्नवालिस को है। प्रारम्भ में इस ग्रन्थालय में केवल संस्कृत पोथियों का सङ्ग्रह शुरू किया गया और किसी अधिकारी की नियुक्ति नहीं हुई। सन् १८११ ई. में पं. मथुरानाथ शुक्ल नियुक्त हुए। सन् १८१३ ई. में ग्रन्थाध्यक्ष के पद का सर्जन हुआ और दो सहायकों के पद भी बनाये गये। प्रथम ग्रन्थाध्यक्ष तो पं. शुक्ल ही रहे और द्वितीय ग्रन्थाध्यक्ष पाठशाला के तत्कालीन प्रधानाचार्य पं. रामानन्द बनाये गये। आगे चलकर व्यवस्था परिवर्तित हुई और सन् १९१४ तक संस्कृत कालेज का प्रिंसिपल पदेन ग्रन्थाध्यक्ष हुआ करता था। इस अवधि तक जिन्होंने ग्रन्थाध्यक्ष का कार्य किया उनमें से प्रमुख हैं- श्री यदुनाथ झा, श्री बेचन नाथ त्रिपाठी, श्री रमानाथ शुक्ल, श्री ढुण्ढिराज शास्त्री, म.म. पं. सुधाकर

द्विवेदी और म.म. पं. विन्ध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदी।

प्रिंसिपल आर्थर वेनिस ने एकत्र हुई पाण्डुलिपियों (हस्तलिखित पोथियों) के संरक्षण हेतु सुव्यवस्थित ग्रन्थालय भवन के निर्माण हेतु प्रस्ताव प्रेषित किया। वर्तमान पुस्तकालय भवन का शिलान्यास १६ नवम्बर, १९७० ई. के दिन सर जॉन हीबेट के द्वारा किया गया। प्रस्तरनिर्मित यह भवन सन् १९१४ ई. में बनकर तैयार हुआ। २४ अप्रैल, सन् १९१४ ई. में म.म. पं. गोपीनाथ कविराज प्रथम पूर्णकालिक ग्रन्थाध्यक्ष नियुक्त हुए। इस ग्रन्थालय का नामकरण- 'प्रिन्सेज आफ वेल्स सरस्वती भवन ग्रन्थालय' किया गया। ग्रन्थालय भवन का उद्घाटन १९१५ ई. में हुआ। उद्घाटन समारोह की अध्यक्षता संयुक्त प्रान्त के तत्कालीन ले. गवर्नर सर जेम्स कोर्गनिस्टर K.C.S.I. ने की थी।

पाण्डुलिपियों के सङ्कलन और संरक्षण के साथ ही इनके विवरणात्मक सूचीपत्र के प्रकाशन और महत्त्वपूर्ण पाण्डुलिपियों के सम्पादन और प्रकाशन की योजना भी बनी। 'सरस्वती भवन टेक्स्ट सीरीज' और 'सरस्वती भवन स्टडजीज़' नामक दो योजनाएँ कार्यान्वित हुईं। इस कार्य में तत्कालीन प्रिंसिपल डॉ. गङ्गानाथ झा का अपूर्व सहयोग प्राप्त हुआ। २२ मार्च, १९५८ को वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय (प्राचीन क्वीन्स कालेज) की स्थापना के साथ इस ग्रन्थालय की व्यवस्था उसके अधिकार में आ गयी।

सम्प्रति सरस्वती भवन ग्रन्थालय में प्रायः एक लाख पचीस हजार से अधिक पाण्डुलिपियाँ सुरक्षित रखी गयी हैं। इनके दो प्रकार के सूची पत्र उपलब्ध हैं। प्रथम १७९१ से १९५० तक सङ्कलित पाण्डुलिपियों का सूची पत्र और द्वितीय १९५१ से १९८१ तक की सङ्कलित पाण्डुलिपियों का सूची पत्र। यह नवीन सूची पत्र १९९२ ई. में प्रकाशित हुआ था। १९८१ ई. के पश्चात् भी बड़ी संख्या में प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों का क्रय और सङ्ग्रह हुआ है। प्रो. वि. वेङ्कटाचलम् के कुलपतित्व काल में भादुड़ी महाशय ने अपने पिता द्वारा दान की गई कई हजार पाण्डुलिपियाँ माननीय उच्च न्यायालय, इलाहाबाद के आदेश से वापस ले लीं। अनेक महत्त्वपूर्ण पाण्डुलिपियों के अनधिकृत रूप से चोरी हो जाने की भी चर्चा सुनने में आयी थी। राष्ट्रिय पाण्डुलिपि मिशन द्वारा इस ग्रन्थालय में विद्यमान पाण्डुलिपि ग्रन्थों की माइक्रो-फिल्मिंग की गयी है। पाण्डुलिपि की छायाप्रति कुलपति के आदेश से ही प्राप्त होती है।

२. भारत कला भवन एवं गायकवाड़ केन्द्रीय ग्रन्थालय, काशी

हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी – भारत कला भवन के द्वितीय तल पर संस्कृत पाण्डुलिपियों का सङ्ग्रह संरक्षित है। इसमें विविध प्रकार की पाण्डुलिपियों को संजोकर रखा गया है, जो पर्यटक-दर्शकों को अनायास ही अपनी ओर आकर्षित करती हैं। अनुसन्धित्सुजन के लिए भी यह सङ्ग्रह पर्याप्त उपयोगी है।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के गायकवाड़ केन्द्रीय ग्रन्थालय में भी पाण्डुलिपियों का सङ्ग्रह विद्यमान है। यहाँ पाण्डुलिपियों का मुद्रित विवरणात्मक सूची पत्र भी उपलब्ध है जिसमें केन्द्रीय ग्रन्थालय, भारत कला भवन और प्राच्य विद्या धर्म विज्ञान सङ्काय में विद्यमान पाण्डुलिपियों की जानकारी दी गयी है।

३. गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद – सम्प्रति यह संस्था राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली के एक परिसर के रूप में मानित विश्वविद्यालय दर्जा प्राप्त डॉ. गङ्गानाथ झा शोध संस्थान, आजाद पार्क, इलाहाबाद-२११००२ के रूप में अवस्थित है।

डॉ. गङ्गानाथ शोध संस्थान के ग्रन्थालय में प्रायः पचास हजार पाण्डुलिपियाँ संग्रहीत हैं जिनमें अधिकांश संस्कृत भाषा में हैं। इनका सूची पत्र भी विषयानुसार कई खण्डों में प्रकाशित है। संस्थान द्वारा पाण्डुलिपियों के सम्पादन और प्रकाशन की योजना भी प्रवर्तित है और कई ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।

४. अखिल भारतीय संस्कृत परिषद्, लखनऊ – यह संस्था पहले महात्मा गांधी मार्ग, हजरतगंज, लखनऊ में एक भवन के द्वितीय तल पर अवस्थित थी किन्तु विगत वर्ष इसे 'देव वाणी भवन' सेक्टर-बी (थाने के पास), अलीगंज, लखनऊ में स्थानान्तरित कर इसके पाण्डुलिपि सङ्ग्रह को वहाँ व्यवस्थित किया गया है। सम्प्रति इसके निदेशक प्रो. अशोक कुमार कालिया (पूर्व कुलपति, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी एवं पूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय) हैं। इसमें संगृहीत पाण्डुलिपियों का विवरणात्मक सूची पत्र प्रो. के.ए. सुब्रह्मण्य अय्यर की अध्यक्षता में सम्पादक मण्डल ने तैयार किया था। इस ग्रन्थालय में उत्तर भारत से प्राप्त देवनागरी लिपि में लिखी गई कई हजार पाण्डुलिपियाँ हैं। प्रायः एक हजार पाण्डुलिपियाँ शारदालिपि में भी लिखित हैं जिन्हें कश्मीरी पण्डितों ने संस्था को दिया है।

५. श्री रणवीर रघुनाथ मन्दिर पाण्डुलिपि ग्रन्थालय (श्री रणवीर शोध संस्थान) – यह पाण्डुलिपि ग्रन्थालय श्री रघुनाथ मन्दिर परिसर, जम्मू-१८०००१ में अवस्थित है और सम्प्रति जम्मू-कश्मीर शासन के धर्मार्थ ट्रस्ट द्वारा

सञ्चालित है। ग्रन्थालय की पाण्डुलिपियों का संरक्षण कुछेक कर्मचारियों के सहारे है।

यह पाण्डुलिपि सङ्ग्रहालय, महाराज जम्मू एवं कश्मीर श्री रणवीर सिंह के नाम से वहाँ के महाराज द्वारा स्थापित किया गया था। इसकी पाण्डुलिपियों का प्रथम सूची पत्र एम.ए. स्टीन द्वारा तैयार किया गया था जो १८९४ ई. में निर्णय सागर प्रेस, मुम्बई से छपा था। पुनः १९७० ई. में एम.ए. पाटकर ने यहाँ का विवरणात्मक सूची पत्र सम्पादित करके छपवाया। यहाँ की विविध विषयक पाण्डुलिपियाँ देवनागरी और शारदालिपि में हैं। यहाँ की किसी भी पाण्डुलिपि की प्रतिलिपि प्राप्त करने के लिए धर्मार्थट्रस्ट के अध्यक्ष की अनुमति आवश्यक है।

६. भण्डारकर प्राच्यविद्या शोध संस्थान पाण्डुलिपि ग्रन्थालय, पुणे-४११००१ (BORI MSS.LIB.) – इस संस्थान की स्थापना पुणे (महाराष्ट्र) में १९१७ ई. में हुई और इसे तत्कालीन संस्कृत के विद्वानों सुकथण्कर, आर.जी. भण्डारकर आदि का सहयोग प्राप्त हुआ। स्थापना काल से ही इसमें पाण्डुलिपियों का सङ्कलन प्रारम्भ हुआ। कीलहार्न ने बाम्बे गवर्नमेण्ट को जो स्वयं संगृहीत पाण्डुलिपियाँ दी थीं, वे यहाँ रखी गयीं। डकन कालेज से भी पाण्डुलिपियाँ प्राप्त हुई। बुह्लर ने जब पाण्डुलिपियों की खोज में कश्मीर की यात्रा की तो वहाँ से खरीदी गयी बहुत सी दुर्लभ पाण्डुलिपियाँ इस ग्रन्थालय को प्राप्त हुईं। यहाँ का विवरणात्मक सूची पत्र प्रकाशित है और वर्तमान में इस संग्रह में प्रायः तेईस हजार पाण्डुलिपियाँ संरक्षित हैं। स्वतंत्र भारत की केन्द्र सरकार से यहाँ की पाण्डुलिपियों के संरक्षण हेतु दो करोड़ रु. प्राप्त हुए थे।

इस पाण्डुलिपि ग्रन्थालय और शोध संस्थान के संयुक्त प्रयत्न से विद्वानों के संशोधक मण्डल द्वारा अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ हैं। उनमें से 'The Critical Edition of Mahabharta' प्रसिद्ध है। यह एक बड़ा और महत्त्वपूर्ण कार्य है। वर्तमान में 'प्राकृत कोश' का निर्माण कार्य चल रहा है।

७. प्रज्ञा पाठशाला मण्डल, ३१५, गङ्गापुरी, वाई, जि.-सतारा (महा.) पिन-४१२८०३ – इस संस्था में भी संस्कृत पाण्डुलिपियों का अच्छा संग्रह है और यहाँ से किसी पाण्डुलिपि की प्रतिलिपि या लिप्यन्तर प्राप्त करना अन्यत्र की अपेक्षा अधिक आसान है। इस संस्था में सङ्कलित पाण्डुलिपियों का विवरणात्मक सूची पत्र पं. लक्ष्मण शास्त्री जोशी ने तैयार करके १९७० में प्रकाशित कराया है। यद्यपि संस्था छोटी है किन्तु इसने 'धर्मकोश' और 'मीमांसा कोश' जैसे महत्त्वपूर्ण

ग्रन्थों का प्रकाशन करके पर्याप्त प्रसिद्धि अर्जित की है।

८. अड्यार ग्रन्थालय एवं शोध केन्द्र, अड्यार (चेन्नई), तमिलनाडु-६०००२० - यह पाण्डुलिपि ग्रन्थालय भारत के सर्वोत्तम ग्रन्थालयों में से एक है। ग्रन्थालय थियोसॉफिकल सोसायटी परिसर में सुरम्य प्राकृतिक वातावरण में निर्मित भवन में स्थापित है और पाण्डुलिपि संरक्षण की आधुनिकतम तकनीकी सुविधाएँ (यथा- वातानुकूलन इत्यादि) विद्यमान हैं। इस ग्रन्थालय में सम्पूर्ण भारत से एकत्र की गयी अनेक लिपियों में लिखित विविध विषयों की महत्त्वपूर्ण पाण्डुलिपियाँ संरक्षित हैं।

इस पाण्डुलिपि ग्रन्थालय की स्थापना कर्नल ऑलकाट और सुश्री ब्लावेत्सकी ने श्रीमती एनी बेसेंट के सहयोग से की थी। ग्रन्थालय में संगृहीत पाण्डुलिपियों का पहला विवरणात्मक सूचीपत्र तत्कालीन ग्रन्थाध्यक्ष श्री के. माधवकृष्ण शर्मा ने डॉ. सी. कुन्हन राजा की देखरेख में १९४२ ई. में तैयार किया था। इसके बाद भी पाण्डुलिपियों का सङ्कलन हो रहा है तथा समय-समय पर सूची पत्र को अद्यतन किया जाता रहा। अड्यार ग्रन्थालय से पाण्डुलिपियों के सम्पादन और प्रकाशन भी हो रहे हैं।

९. गवर्नमेण्ट ओरियण्टल मैनुस्क्रिप्ट लाइब्रेरी, मद्रास (चेन्नई)-६००००५ - यह भी संस्कृत पाण्डुलिपियों का एक प्रसिद्ध सरकारी सङ्ग्रहालय है। १९३८ ई. में मद्रास शासन के आदेश से श्री एस. कुप्पूस्वामी शास्त्री और पी.पी. सुब्रह्मण्य शास्त्री ने यहाँ संगृहीत पाण्डुलिपियों का विवरणात्मक सूची पत्र तैयार किया था जिसका प्रकाशन कई खण्डों में हुआ है। ग्रन्थालय का प्रकाशन विभाग भवन के प्रथम तल पर है। दक्षिण भारत में सङ्कलित पाण्डुलिपियों का यह सबसे बड़ा ग्रन्थालय है। प्रो. वी. राघवन् ने यहीं अपना 'न्यू कैटालॉगस कौटालागोरम' तैयार किया था, जो यहाँ से क्रय के लिए उपलब्ध रहता है।

१०. ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीच्यूट लाइब्रेरी, मानस गंगोत्री, मैसूर-५७०००१ (कर्णाटक) - संस्कृत पाण्डुलिपियों का यह ग्रन्थागार मैसूर विश्वविद्यालय के परिसर में ही विद्यमान है। यहाँ ताड़पत्र और कागज के पन्नों पर लिखी हुई पाण्डुलिपियों का अच्छा संग्रह है। ये अधिकांशत: देवनागरी और तेलुगू (कन्नड़) लिपि में हैं। इस ग्रन्थालय को प्राय: 'गवर्नमेण्ट ओरियण्टल लाइब्रेरी, मैसूर' कहा जाता है। यहाँ सङ्कलित पाण्डुलिपियों का विवरणात्मक सूची पत्र पं. एम.एस. बसवलिङ्गय्या और पं. टी.टी. श्रीनिवासगोपालाचार्य ने तैयार किया है। ग्रन्थालय

का प्रकाशन विभाग महत्त्वपूर्ण पाण्डुलिपियों का सम्पादन करके उनका प्रकाशन भी करता है और मुद्रित ग्रन्थों के विक्रय की भी व्यवस्था है। यहाँ नियुक्त लिपि-विशेषज्ञ पण्डित नियमानुसार निर्धारित दर पर राशि जमा करने पर किसी भी पाण्डुलिपि का लिप्यन्तर करके अभ्यर्थी को उपलब्ध कराते हैं। मैंने यहाँ से कोलाचल मल्लिनाथ सूरि द्वारा लिखित 'वैश्यवंशसुधार्णव:' की तेलुगू लिपि में लिखित पाण्डुलिपि (ताड़पत्र) का देवनागरी लिप्यन्तर कराकर प्राप्त किया है।

११. तंजावुर महाराजा सरफोजी सरस्वती महल लाइब्रेरी, तंजावुर (तंजोर)-६१३००९ (तमिलनाडु) - यह पाण्डुलिपि ग्रन्थालय, तंजौर महल परिसर में कला संग्रहालय के बगल में अवस्थित है। इस ग्रन्थालय में ताड़पत्र और कागज पर लिखे हुए विभिन्न भाषाओं की अनेक लिपियों में निबद्ध हस्तलिखित पोथियाँ हैं। यहाँ सङ्कलित पाण्डुलिपियों की कुल संख्या लगभग ४७,००० (सैंतालिस हजार) है जिनमें संस्कृत की सर्वाधिक ४०,००० (प्राय: चालीस हजार) पाण्डुलिपियाँ हैं। इनका विवरणात्मक सूची पत्र पं. पी.एस. शास्त्री ने तैयार किया था। ताड़पत्र और कागज पर लिखी तमाम पाण्डुलिपियाँ इतनी प्राचीन और जीर्ण-शीर्ण दशा में हैं कि उनकी प्रतिलिपि या छाया प्रतिलिपि (Zerox) करने की अनुमति नहीं है। सम्प्रति यह ग्रन्थालय राज्य सरकार के अधीन हैं। अत: पाण्डुलिपियों का रख-रखाव और अन्य प्रबन्धकीय व्यवस्था सुचारु है। इन्दिरा गांधी राष्ट्रिय कला केन्द्र के सहयोग से पाण्डुलिपियों की माइक्रोफिल्मिंग कराई गयी है।

१२. ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट एण्ड मैनुस्क्रिप्ट लाइब्रेरी, करियावट्टम्, त्रिवेन्द्रम् -६९५५८१ (केरल) - यह पाण्डुलिपि ग्रन्थालय यद्यपि त्रिवेन्द्रम (तिरुवन्तपुरम्) नगर से प्राय: २० कि.मी. दूर अवस्थित करियावट्टम नामक उपनगर में अवस्थित है किन्तु यह त्रिवेन्द्रम विश्वविद्यालय के अन्तर्गत है। यहाँ शोधार्थियों के आने-जाने के लिए विश्वविद्यालय परिसर से संचालित बसों की सुविधा प्राप्त है। इस ग्रन्थालय में सङ्कलित हस्तलिखित पोथियों का कार्ड सूची पत्र अकारादिक्रम से निर्मित है। सङ्कलित पाण्डुलिपियों में से अधिकांश ताड़पत्र पर लिखित हैं। सूची पत्र को सम्पादित करके १९५७ ई. में श्री एस.के. पिल्लै ने प्रकाशित कराया है, जो त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज (सं. २१५) के अन्तर्गत मुद्रित है। पाण्डुलिपियों के प्रतिलिपीकरण एवं लिप्यन्तरण हेतु विशेषज्ञ लेखक (पण्डित) नियुक्त हैं। कागज पर लिखी पाण्डुलिपियों की छायाप्रति (Zerox) भी प्राप्त की जा सकती है।

१३. श्री हेमचन्द्र जैन ज्ञान मन्दिर, १० ए, भारती सोसायटी, सरदार रोड, पाटन-३८४२६५ (उत्तर गुजरात) - यह पाण्डुलिपि ग्रन्थालय एक ट्रस्ट के अधीन है जिसके मुख्य ट्रस्टी हैं- श्री यतीन वी. शाह। इनकी अनुमति से यहाँ पाण्डुलिपियों को देखा या प्राप्त किया जा सकता है। यहाँ की पाण्डुलिपियाँ विशेषतः जैन वाङ्मय से सम्बद्ध हैं किन्तु अन्य विषयों (यथा- व्याकरण, साहित्य, काव्यशास्त्र आदि) से भी सम्बद्ध प्राचीन ग्रन्थों की हैं। यहाँ की पाण्डुलिपियों का प्रथम सूची पत्र १९७२ ई. में मुनि पुण्य विजय जी महाराज ने 'श्री हमेचन्द्राचार्य जैन ज्ञान मन्दिर स्थित जैन ज्ञानभण्डार सूची पत्र' नाम से तैयार किया था। इसका प्रकाशन मुनि जम्बू विजय जी महाराज ने सम्पादित करके 'अणहिलपताकानगरस्थजैनग्रन्थ-भण्डारान्तर्गतानां हस्तलिखितग्रन्थानां सूची' नाम से १९९१ ई. में कराया है।

१४. दि एसियाटिक सोसायटी, कलकत्ता (कोलकाता), १ पार्कस्ट्रीट, कोलकाता-७०००१६ - एसियाटिक सोसायटी की स्थापना अंग्रेज शासकों द्वारा १७८४ ई. में कलकत्ता में की गयी। इसके पाण्डुलिपि ग्रन्थागार के लिए पूर्वोत्तर भारत में उपलब्ध पाण्डुलिपियों का संग्रह किया गया। वर्तमान में यहाँ प्रायः ५०,००० (पचास हजार) से अधिक पाण्डुलिपियाँ संगृहीत हैं। इसमें संस्कृत के अतिरिक्त असमी, बंगला और उड़िया ग्रन्थों की पाण्डुलिपियाँ भी हैं। यहाँ भोठ भाषा (तिब्बती) और चीनी भाषा में अनूदित ग्रन्थों की पाण्डुलिपियाँ भी संरक्षित हैं। अति प्राचीन काल की (प्रायः सातवीं शताब्दी की) कुछ पाण्डुलिपियाँ यहाँ संरक्षित हैं। यहाँ पाण्डुलिपियों का संग्रह अंग्रेज विद्वानों की रुचि और प्रयत्न से हुआ है। पाण्डुलिपियों का विवरणात्मक सूची पत्र म.म. हरप्रसाद शास्त्री के प्रयत्न से तैयार हुआ जिसका संशोधन एवं सम्पादन पं. नरेन्द्र चन्द्र वेदान्ततीर्थ तथा पं. चिन्ताहरण चक्रवर्ती द्वारा सम्पन्न किया गया।

१५. गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज, १ बंकिम चन्द्र चटर्जी स्ट्रीट, कलकत्ता-७०००७३ - यह संस्था कलकत्ता विश्वविद्यालय के समीप स्थित है। इसमें भी संस्कृत पाण्डुलिपियों का ग्रन्थागार है जिसका विवरणात्मक सूची पत्र पं. हृषीकेश शास्त्री और पं. शिवचन्द्र गुई ने मिलकर १९०० ई. में बनाया है।

१६. प्राच्यविद्या शोध संस्थान, बड़ौदा (वादोदरा), गुजरात - महाराज सयाजी राव विश्वविद्यालय, बड़ौदा के अन्तर्गत बीसवीं शताब्दी ई. के प्रारम्भ में इस शोध संस्थान की स्थापना हुई। इसमें एक पाण्डुलिपि संग्रहालय भी स्थापित किया गया जिसमें पश्चिमोत्तर भारत से उपलब्ध हुई पाण्डुलिपियों को संगृहीत किया गया।

पाण्डुलिपियों की संख्या कई हजार है। इसमें महाभारत की एक अत्यन्त विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण (कुण्डलित एवं विशालकाय) पाण्डुलिपि भी संरक्षित है।

१७. एल.डी. इंस्टीच्यूट ऑफ इण्डोलॉजी, अहमदाबाद - इस संस्थान का पाण्डुलिपि ग्रन्थागार भी उल्लेखनीय है जिसमें अनेक दुर्लभ पाण्डुलिपियाँ रखी हुई हैं।

१८. सिन्धिया ओरियण्टल लाइब्रेरी, देवास मार्ग, उज्जैन-४५६०१० - सिन्धिया राजघराने द्वारा महाकाल की नगरी उज्जैन में स्थापित प्राच्यविद्या शोध संस्थान सम्प्रति विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन के अधीन है। इस शोध संस्थान में संस्कृत की प्राचीन-दुर्लभ पाण्डुलिपियों का एक ग्रन्थागार भी है जिसमें प्रायः १७,००० (सत्रह हजार) से अधिक पाण्डुलिपियाँ संगृहीत हैं। १९७० ई. के दशक में जब डॉ. एस.एम. कत्रे इस शोध संस्थान के निदेशक हुए तो उन्होंने ग्रन्थागार में सङ्कलित पाण्डुलिपियों का वर्गीकरण, सूचीकरण और प्रकाशन कराया। साथ ही, पाण्डुलिपियों का संग्रह भी कराया।

१९. प्राच्यविद्या शोध संस्थान एवं पाण्डुलिपि ग्रन्थागार, जोधपुर (राज.) - स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व ही अंग्रेज विद्वानों ने राजस्थान के जयपुर, जोधपुर, बीकानेर, अजमेर, जैसलमेर प्रभृति सम्भागों के गाँवों-नगरों में यहाँ-वहाँ पड़ी हुई संस्कृत पाण्डुलिपियों की खोज और संग्रह का कार्य प्रारम्भ किया था। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् राजस्थान सरकार ने जोधपुर में, 'ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट ऑफ गवर्नमेण्ट ऑफ राजस्थान' नामक संस्था की स्थापना की। अपनी स्थापना के विगत प्रायः ६५ वर्षों में इस संस्थान ने पाण्डुलिपियों का एक अभूतपूर्व विशाल संग्रह स्थापित किया। इन संग्रह में वर्तमान में प्रायः एक लाख पचीस हजार (१,२५,०००) से अधिक संस्कृत, प्राकृत एवं राजस्थानी भाषा के प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों की पाण्डुलिपियाँ सङ्कलित हैं। इनका एक बृहद् विवरणात्मक सूचीपत्र कई खण्डों में प्रकाशित हो रहा है। वहाँ उपलब्ध महत्त्वपूर्ण संस्कृत पाण्डुलिपियों के सम्पादन और प्रकाशन का कार्य भी अनवरत चल रहा है। संस्थान की कई शाखायें राजस्थान के विभिन्न नगरों में खोली गयी हैं जिनके माध्यम से पाण्डुलिपियों की खोज और खरीद हो रही है।

२०. विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर, पंजाब - इस वैदिक शोध संस्थान के ग्रन्थागार में वेदों से अतिरिक्त अन्य विषयों की अनेकानेक संस्कृत पाण्डुलिपियाँ संगृहीत हैं।

उपर्युक्त कुछ प्रमुख पाण्डुलिपियों के संग्रहालयों का उल्लेख करने से यह नहीं मानना चाहिए कि पाण्डुलिपि ग्रन्थागारों की संख्या इतनी ही है। नयी दिल्ली और कोलकाता में दो राष्ट्रिय पुस्तकालय (National Libraries) हैं जिनमें मुद्रित ग्रन्थों के अतिरिक्त हस्तलिखित ग्रन्थों के विशाल भण्डार हैं। देश में जितने भी प्राच्य शोध संस्थान हैं प्रायः सब में पाण्डुलिपि पुस्तकालय हैं। विद्वानों और प्राचीन अभिलेखादि वस्तुओं के शौकीन संग्रहकर्ताओं के अपने व्यक्तिगत पाण्डुलिपि संग्रह हैं। प्रदेशों में राज्य सरकारों द्वारा स्थापित संस्कृत अकादमियों एवं संस्थानों द्वारा भी पाण्डुलिपि सर्वेक्षण और क्रय करके उनका संग्रह किया जाता है। मिथिला क्षेत्र के (मैथिल) पण्डितों के घर-घर प्राचीन हस्तलिखित पोथियाँ हैं। पर्वतीय क्षेत्र (हिमलायी क्षेत्र) के दुर्गम गाँवों में भी पण्डितों के यहाँ परम्परागत रूप से पाण्डुलिपियाँ रखी हुई हैं। केन्द्र सरकार के अधीन राष्ट्रिय पाण्डुलिपि मिशन पूरे भारतवर्ष में पाण्डुलिपियों की खोज और उनके संरक्षण के कार्य में लगा हुआ है।

भारत के अतिरिक्त विदेशों में भी संस्कृत पाण्डुलिपियों के संग्रह हैं। इण्डिया आफिस लाइब्रेरी, लन्दन; जर्मनी, फ्रांस, अमेरिका, रूस, तिब्बत, चीन, जापान, बर्मा, नेपाल (काठमांडू), श्रीलंका आदि देशों में संस्कृत पाण्डुलिपियाँ प्रचुर संख्या में संरक्षित है।

संस्कृत पाण्डुलिपियों के महत्त्वपूर्ण सूची पत्र

देश-विदेश में जहाँ भी संस्कृत पाण्डुलिपियाँ सुरक्षित/संरक्षित हैं, वहाँ उनका सूची पत्र बनाया गया है जो उस ग्रन्थागार में तो उपलब्ध है ही और यदि सम्पादित होकर मुद्रित/प्रकाशित हो गया है तो क्रय द्वारा सर्वजन सुलभ है। यहाँ हम ऐसे कुछ प्रमुख महत्त्वपूर्ण प्रकाशित सूची पत्रों का विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं-

१. कैटालॉगस कैटालॉगोरम् (तीन खण्ड) - सम्पादक - टी. आफ्रेक्ट (१८९१, १८९६, १९०३)।

२. न्यू कैटालॉगस कॅटालॉगोरम् - द्वारा, डॉ. वी. राघवन्, मद्रास यूनिवर्सिटी, १९४९।

३. ए क्लासीफाईड इण्डेक्स टू दि संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स इन पैलेस आफ तंजोर - ए.सी. वर्नेल, लन्दन, १८८०-८८।

४. ए डिस्क्रिप्टिव कैटलॉग आफ दि संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स इन तंजोर महाराजा सरफोज़ीज सरस्वती महल लाइब्रेरी (सात खण्ड) - पी.पी.एस्. शास्त्री, १९३०।

५. लिस्ट्स ऑफ संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स इन प्राइवेट लाइब्रेरीज़ आफ इण्डिया (दो खण्ड) - गुस्ताव ओपर्ट, मद्रास, १८८०-८५।

६. दि रिपोर्ट आन संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स - जी. वुह्लर, १८७४-७५।

७. डिटेल्ड रिपोर्ट आफ आपरेशन्स इन सर्च आफ संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स इन दि बाम्बे सरकिल (तीन खण्ड) - पी. पीटर्सन, १८८२-८८।

८. नोटिसेज़ आफ संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स (नौ खण्ड) - राजेन्द्र लाल मित्र, कलकत्ता, १८७१-९०।

९. ए कैटलॉग आफ संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स इन दि लाइब्रेरी आफ एच्.एच्. महाराज आफ बीकानेर - राजेन्द्र लाल मित्र, कलकत्ता १८८०-८८।

१०. ए कैटालॉग आफ संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स कण्टेण्ड इन प्राइवेट लाइब्रेरीज़ आफ गुजरात, काठियावाड़, कच्छ, सिन्ध एण्ड खानदेश (चार खण्ड) - जी. वुह्लर एण्ड अदर्स, बाम्बे, १८७१-७३-७८।

११. ए सप्लीमेण्टरी कैटलॉग आफ संस्कृत, पाली एण्ड प्राकृत बुक्स इन लाइब्रेरी आफ ब्रिटिश म्युजियम, एक्वायर्ड ड्यूरिंग दि ईयर १८९२-१९०६ (दो खण्ड) - एल.डी. बार्नेट, १९०८, १९२८।

१२. ए डिस्क्रिप्टिव कैटलॉग आफ संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स इन दि गवर्नमेण्ट ओरियण्टल लाइब्रेरी, मद्रास (अट्ठाईस खण्ड) - म.म. कुप्पूस्वामी शास्त्री एवं म.म. पी.पी. सुब्रह्मण्य शास्त्री, १९३८-४०।

१३. कैटलाग आफ संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स इन दि गवर्नमेण्ट ओरियण्टल लाइब्रेरी, मैसूर, १९५५।

१४. ए डिस्क्रिप्टिव कैटलॉग आफ संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स इन सरस्वती भवन लाइब्रेरी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत यूनिवर्सिटी, वाराणसी (इकतीस भाग) - सम्पादक- म.म. गोपीनाथ कविराज, पं. सुभद्र झा, डॉ. विजयनारायण मिश्र एण्ड अदर्स, १९५०-१९८८।

१५. ए डिस्क्रिप्टिव कैटलाग आफ मैन्युस्क्रिप्ट्स इन गङ्गानाथ झा लाइब्रेरी, इलाहाबाद (बारहखण्ड) - डॉ. सर्वनारायण झा एण्ड अदर्स, २०११-१२।

ये तो कुछ प्रमुख सूची पत्र हैं। इनके अतिरिक्त भारत एवं विदेशों में जहाँ भी पाण्डुलिपियों के ग्रन्थालय हैं, सबके सूची पत्र प्रकाशित हैं। पाण्डुलिपियों की उपलब्धि निरन्तर हो रही है तो नये सूची पत्र तैयार होंगे। यह एक सतत प्रक्रिया है।

●

५

पञ्चम अध्याय

आधुनिक संस्कृत-शोध

आधुनिक संस्कृत शोध का प्रयोग आज जिस अर्थ में हो रहा है, वह हमारे प्राचीन परम्परागत शोध से अनेक अर्थों में भिन्न है। वस्तुतः संस्कृत में शोध का प्रारम्भ तो वैदिक काल से ही हो गया था। उसमें बिना किसी बाह्य उपादान अथवा संसाधन के, विशुद्ध मौलिक चिन्तन द्वारा (जिसे हम आत्मशक्ति और तप:साधना कह सकते हैं) अभीष्ट अनुसन्धान के परिणाम प्राप्त कर लिये जाते थे। अनेक वैदिक सूक्तों में इस प्रकार की शोधात्मक प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। यथा- 'कस्मै देवाय हविषा विधेम।' ऋग्वेद के एक सवितृसूक्त में ऋषि चर्चा करता है- 'सविता इस समय कहाँ है- कौन जान सकता है? उसकी रश्मियाँ कहाँ तक फैली हैं?- इसका पता कौन कर सकता है?' इत्यादि। भाषा साहित्य विषयक वर्तमानकालिक शोध की सीमा व्यापक न होकर एक विषय विशेष के सन्दर्भ में सीमित ही होती है। यह शोध व्यावहारिक दृष्टि से विश्वविद्यालयीय पाठ्यक्रम का एक अङ्ग सा बना गया है और 'ऊँची पढ़ाई' के रूप में जाना जाता है। ऐसे शैक्षिक पाठ्यक्रम के रूप में स्वीकृत शोध विषयक नियम विधियों का निर्माण भी विश्वविद्यालयों एवं प्रभावी नियामक संस्थाओं (यथा- विश्वविद्यालय अनुदान आयोग प्रभृति) द्वारा किया जा रहा है और प्राय: विश्व के समस्त देशों में विधिसम्मत मान्यताओं से आबद्ध है। इस प्रकार के सुनिश्चित पाठ्यक्रम के भी कई स्तर और उपाधियाँ हैं; यथा- एम.फिल्., डी.फिल्. या पीएच.डी., डी.लिट्. इत्यादि। विश्वविद्यालय की ऊँची कक्षाओं में अध्यापन हेतु नियुक्त होने वाले प्राध्यापकों के लिए ये उपाधियाँ वाञ्छित अथवा अनिवार्य अर्हता के रूप में अधिमान्य होती हैं। शिक्षण के क्षेत्र में उच्चशिक्षा में

नियुक्ति के इच्छुक अभ्यर्थी छात्र अपनी स्नातकोत्तर अथवा परास्नातक कक्षा के
विषय (भाषा-साहित्य) में अभीष्ट शोध सम्पन्न करके उपर्युक्त शोधोपाधियाँ अर्जित
करते हैं और इसके लिए उन्हें विश्वविद्यालयीय नियमों के अन्तर्गत एक निश्चित
प्रक्रिया से शोधविषयक अध्ययन करना पड़ता है। शोधच्छात्र किसी प्राध्यापक के
निर्देशन में पञ्जीकृत होकर, शोधसमिति द्वारा अनुमोदित विषय और स्वीकृत कार्य
विवरणिका (सङ्क्षेपिका = SYNOPSIS) के आधार पर अनुमन्य कालावधि में
विशिष्ट शोधप्रविधि के आश्रय से अपना शोधकार्य पूर्ण करके अपने शोध-अध्ययन
के परिणामों और उपलब्धियों को व्यवस्थित रूप से लेखबद्ध करके शोधप्रबन्ध के
माध्यम से प्रस्तुत करता है।

आधुनिक शोध विषयक उपर्युक्त कथन से यह नहीं समझा जाना चाहिए कि शोध का दायरा उच्चशिक्षा संस्थानों तक ही सीमित और सङ्कुचित होकर रह गया है। वस्तुतः ऐसा कथमपि नहीं है। अपने विषय के विद्वान् और जिज्ञासु अनुसन्धाता शोध संस्थानों के माध्यम से अथवा स्वतंत्र रूप से मौलिक शोधकार्य यथारुचि कर रहे हैं। ऐसे शोधकार्यों का उद्देश्य है संस्कृत वाङ्मय में निहित रहस्यों का उद्घाटन, ज्ञान के विविध आयामों का विस्तार तथा शोधकर्ता के वैदुष्य (शोध प्रतिभा) को उत्कर्ष प्रदान करना और नवीन उपलब्धियों को उससे जोड़ना। प्रवर विद्वानों के इस शोधकार्य से अवर शोधार्थियों को दिशा-निर्देश तो प्राप्त होता ही है, संस्कृत जगत् को भी व्यापक लाभ मिलता है। ऐसे अनेक शोध विद्वानों और उनके द्वारा कृत कार्यों का परिचय संक्षेपतः आगे दिया जा रहा है।

अतः, आधुनिक सन्दर्भ में शोध का अभिप्राय नवीन तथ्यों के अन्वेषण से है। पूर्वतः प्राप्त तथ्यों की नवीन आलोक में विवेचना, समीक्षा और वैज्ञानिक व्यवस्थापन भी आधुनिक शोध के अन्तर्गत आते हैं। पाण्डुलिपियों का सम्पादन और उनका समीक्षात्मक संस्करण (CRITICAL EDITION) तैयार करना, उसमें सन्निविष्ट विषयों की समालोचना करना भी आधुनिक शोध का एक आयाम बनता जा रहा है।

टीकाओं, भाष्यों, निबन्धों तथा शास्त्रार्थों के माध्यम से शास्त्रीय तथ्यों एवं गूढ़ रहस्यों का व्याख्यान, वस्तून्मीलन और खण्डन-मण्डन (स्वमतपोषण-परमत निरसन) जैसे बौद्धिक व्यायाम भारतवर्ष में प्राचीन काल से ही होते आ रहे हैं और आज भी प्रचलित हैं किन्तु शोध का जो स्वरूप आधुनिक काल में दृष्टिगोचर हुआ है, वह पहले नहीं था। वस्तुतः आधुनिक शोध भारत वर्ष में आंग्ल शासनकाल में

प्रवर्तित हुआ जो पाश्चात्य शोधदृष्टि के सम्पर्क एवं प्रभाव से विकसित हुआ है। पाश्चात्य प्राच्यविदों की शोधदृष्टि हमारी पारम्परिक भारतीय दृष्टि से भिन्न है। यथा- रामायण एवं महाभारत 'इतिहास ग्रन्थ' कहे जाते हैं। पुराणों में भी वंशादिक्रम का उल्लेख होने से उनमें भी इतिहास की प्रचुर सामग्री उपलब्ध है। किन्तु वर्तमान काल में हम जिस रूप में 'इतिहास' का अध्ययन-अध्यापन करते हैं वह मात्र घटनाओं और उनके कारणों का प्रस्तुतीकरण और विश्लेषण है। कुछ ऐसी ही प्राचीन भारतीय और अर्वाचीन पाश्चात्य शोधदृष्टि भी है।

अंग्रेजों के शासन काल में जो अंग्रेज बुद्धिजीवी (विद्वान् तथा अधिकारी) जिस किसी रूप में और जिस किसी प्रयोजन से भारत आये; उन्होंने जब यहाँ की अपार सारस्वत समृद्धि (असंख्य संस्कृत पाण्डुलिपियाँ) देखीं तो उन्हें महान् आश्चर्य हुआ और वे इस ओर आकृष्ट हुए। उन्होंने भारतीय पण्डितों से संस्कृत का ज्ञान प्राप्त करके विविध ज्ञान विज्ञान के इस अथाह भण्डार में जिज्ञासु भाव से प्रवेश किया। वेद-वेदाङ्ग-उपनिषद्-पुराण-रामायण-महाभारत-व्याकरण-दर्शन-साहित्य-भाषाशास्त्र आदि विषयों के ग्रन्थों का यथारुचि अन्वेषण और अध्ययन करने में प्रवृत्त हुए। उनका झुकाव विशेष रूप से वेद-उपनिषद्-दर्शन और साहित्य की ओर हुआ। महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के सम्पादन, अनुवाद और प्रकाशन ने न केवल पाश्चात्य जगत् के प्राच्यविद् विद्वानों के कान खड़े किये अपितु भारतीय विद्वानों की भी आँखें खोल दीं। संस्कृत वाङ्मय के लिए यह एक महत्त्वपूर्ण अवसर था। भारतीय धरातल पर संस्कृत में आधुनिक शोध का बीजारोपण यहीं से हुआ। भारतीय विद्वान् भी पाश्चात्य शोधदृष्टि से प्रभावित होकर नवीन पद्धति से शोधकार्य में प्रवृत्त हुए। यह कालखण्ड प्रायः उन्नीसवीं शताब्दी का प्रारम्भ है। इस अवधि से आरम्भ कर संस्कृत शोध के क्षेत्र में कृतश्रम विद्वानों के सम्बन्ध में सूचना प्रस्तुत की जा रही है, जो शोध के क्षेत्र में अग्रणी रहे हैं।

१. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

पं. सातवलेकर ने गुजरात के 'पारडी' नामक स्थान में स्वाध्याय मण्डल की स्थापना करके वैदिक वाङ्मय में शोधपरक कार्य किया। इन्होंने चारों वेदों के सम्बन्ध में प्रामाणिक अनुसन्धान करते हुए तद्विषयक प्रकाशनों के द्वारा वैदिक शोध के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। इन्होंने देवताओं के सम्बन्ध में वैदिक सूक्तों पर (एक देवता के सम्बन्ध में जितने सूक्त कहे गये हैं) अपना ध्यान केन्द्रित करके 'दैवत संहिता' शीर्षक से तीन भागों में समस्त वैदिक सूक्तों का सङ्कलन

किया। परिणामतः चारों संहिताओं में फैले-बिखरे तत्तद् देवताविषयक सभी सूक्त एकत्र उपलब्ध हो गये। उन्हें यहाँ-वहाँ ढूँढ़ने की आवश्यकता नहीं।

पं. सातवलेकर ने उपनिषदों का गहन अध्ययन करके नौ प्राचीन उपनिषदों को 'उपनिषद् ग्रन्थमाला' के अन्तर्गत प्रकाशित किया। वैदिक ज्ञान-विज्ञान पर इनके द्वारा दिये गये ४८ व्याख्यान, वैदिक शोध की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इन सभी व्याख्यानों को इन्होंने 'वैदिक व्याख्यान माला' के अन्तर्गत चार भागों में प्रकाशित किया।

२. डॉ. पाण्डुरङ्ग वामन काणे

संस्कृत शोध के क्षेत्र में डॉ. पी.वी. काणे का नाम चिरस्मरणीय रहेगा। इन्होंने 'साहित्यदर्पण' का सम्पादन करते समय जिस प्रकार उसकी प्रस्तावना के रूप में अलङ्कारशास्त्र का इतिहास दिया है, उसी प्रकार 'व्यवहारमयूख' का सम्पादन करते हुए उनकी इच्छा हुई कि इसकी प्रस्तावना में 'धर्मशास्त्र का इतिहास' जोड़ना चाहिए और इस दृष्टि से उन्होंने इसका लेखन आरम्भ किया। किन्तु यह एक विशालकाय ग्रन्थ बन गया। डॉ. काणे ने इसके लेखन में अपनी अद्भुत शोध प्रतिभा का प्रदर्शन किया और वेदों से लेकर अपने समय तक उपलब्ध प्राच्य और पाश्चात्य स्रोतों से सामग्री एकत्र करके 'History of Dharmashastra' की रचना की। इसके प्रकाशित होने पर डॉ. काणे को प्रचुर यश और सम्मान प्राप्त हुआ। इन्हें 'महामहोपाध्याय' की उपाधि तो मिली ही, भारत के महामहिम राष्ट्रपति ने इन्हें सर्वोच्च अलङ्करण 'भारतरत्न' से सम्मानित किया। संस्कृत जगत् में 'भारतरत्न' प्राप्त करने का गौरव इन्हें ही प्राप्त है।

३. आचार्य विश्वबन्धु शास्त्री

श्री विश्वबन्धु शास्त्री ने वैदिक अनुसन्धान के क्षेत्र में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। इन्होंने चार भाष्यों के साथ सर्वप्रथम ऋग्वेद का प्रकाशन किया। इन्होंने वेदों की सेवा करने के उद्देश्य से पंजाब प्रान्त के 'होशियारपुर' नामक स्थान में अपने श्रद्धेय गुरु के नाम पर, 'विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान' की स्थापना की। यह संस्थान अपने स्थापना-काल से ही वैदिक शोध और प्रकाशन की दिशा में अति महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहा है। इसके अन्तर्गत हस्तलिखित और मुद्रित ग्रन्थों का संग्रह भी है और यहाँ अनेक विद्वान् निरन्तर शोधकार्य कर रहे हैं।

आचार्य विश्वबन्धु शास्त्री ने समग्र अथर्ववेद का पाठानुसन्धान करके उसे भाष्य सहित छः खण्डों में प्रकाशित किया है। अथर्ववेद पर ही आधारित शोधमूलक

बृहत्सर्वानुक्रमणी का भी सम्पादन-प्रकाशन इन्होंने किया है।

४. महामहोपाध्याय पं. मधुसूदन ओझा

समीक्षा चक्रवर्ती, वेदमार्तण्ड, विद्यावाचस्पति म.म. पं. मधुसूदन ओझा ने अपने जीवनकाल में प्रायः २५० ग्रन्थों की रचना की थी। उनका पाण्डित्य और चिन्तन अद्भुत था। उनकी शोध प्रतिभा को विद्वज्जन दैवी चमत्कार मानते थे। यद्यपि वे मूलतः बिहार प्रान्त के निवासी थे किन्तु उनका समग्र जीवन प्रायः राजस्थान में व्यतीत हुआ। अधिकांशतः वे जयपुर नरेश के आश्रय में रहे। महराजा संस्कृत कालेज में अध्यापन के साथ ही वे राजकीय पोथीखाने (ग्रन्थालय) के प्रधान अध्यक्ष भी थे।

ऐसे वेदविद्या विशारद पं. मधुसूदन ओझा का वैदिक शोध के सन्दर्भ में यदि नाम न लिया जाय तो वैदिक शोध परम्परा का एक उच्च सोपान ही विगलित हो जायगा। मं.म. पं. ओझा ने अपनी प्रज्ञा से एक नूतन वेद व्याख्यान पद्धति का आविष्कार किया और प्रतीकों के आधार पर वेदमंत्रों के व्याख्यान का विकास किया। उन्होंने अपनी व्याख्या को वैज्ञानिक, पुरातात्त्विक और आध्यात्मिक स्वरूप देने का श्लाघ्य प्रयत्न किया। उन्होंने वेदों के सम्बन्ध में लोगों के बीच से अज्ञान और मिथ्या धारणा का निवारण किया।

म.म. पं. ओझा ने वेदों में प्रतिपादित विज्ञान के रहस्यों का उन्मीलन करने के साथ ही भारत के प्राचीन इतिहास और भूगोल विषयक इतिहास ग्रन्थों की भी रचना की जिन्हें 'विज्ञानेतिवृत्तवाद' के नाम से अभिहित किया गया। 'इन्द्रविजय' नामक विशाल प्रसिद्ध ग्रन्थ इसी कोटि में परिगणित है जिसमें विस्तार के साथ म.म. पं. ओझा ने वैदिक मंत्रों और पौराणिक सन्दर्भों के आधार पर भारत के प्राचीन भूगोल और वेदकालिक इतिहास का तर्कसम्मत प्रामाणिक स्वरूप प्रतिपादित किया है। यह ग्रन्थ शोध का एक उत्कृष्ट उदाहरण है और भारतवर्ष के प्राचीन आर्योपाख्यान के सम्बन्ध में पाश्चात्य इतिहासकारों द्वारा प्रवर्तित मिथ्या धारणाओं का मूलोच्छेदक है।

जयपुर राजकुल के संरक्षण में पं. ओझा ने इस प्रकार के शताधिक शोधग्रन्थों का निर्माण किया। उन्होंने देश-विदेश की यात्रायें कीं। वे शास्त्रार्थ महारथी थे। तत्कालीन विद्वानों में उनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी और काशी-प्रयाग तथा अन्यत्र भी उनके सम्मान में अनेक आयोजन हुए। पाश्चात्य विद्वान् भी उनका समादर करते थे।

म.म. पं. मधुसूदन ओझा की वेद व्याख्या पद्धति को म.म. पं. गिरिधर

शर्मा चतुर्वेदी ने अपानाया और वेदार्थ का उपबृंहण करने वाले पौराणिक सन्दर्भों की व्याख्या उसी प्रतीक पद्धति में प्रस्तुत की। पं. मोती लाल शास्त्री, पं. ओझा के परम शिष्य थे और शास्त्री जी ने भी इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर में संस्कृत विभाग के अन्तर्गत 'म.म. पं. मधुसूदन ओझा शोध पीठ (प्रकोष्ठ) की स्थापना की गयी है, जहाँ पं. ओझा प्रणीत ग्रंथों के सम्पादन और प्रकाशन के साथ ही वैदिक वाङ्मय के विविध विषयों पर अनुसन्धान भी हो रहे हैं।

५. महर्षि अरविन्द

महर्षि अरविन्द आध्यात्मिक चेतना के युगपुरुष के रूप में जाने जाते हैं। पाण्डिचेरी, इनकी साधनास्थली रही है। आज भी श्री अरविन्द आश्रम, अरविन्द सोसायटी आदि संस्थाएँ उनकी उपलब्धियों से समस्त जगन्मण्डल को परिचित करा रही हैं। महर्षि अरविन्द (पूर्व नाम - श्री अरविन्द घोष) ने वेदों का तात्त्विक अनुशीलन किया। उनकी अनुभूतियों से भरा हुआ और अंग्रेजी भाषा में लिखा हुआ ग्रन्थ 'On the Veda' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ के अध्ययन से महर्षि अरविन्द के मौलिक चिन्तन का ज्ञान होता है।

६. आचार्य मङ्गलदेव शास्त्री

शास्त्री जी ने प्रातिशाख्यों पर शोधपरक कार्य किया है। इनके द्वारा सम्पादित ऋग्वेद प्रातिशाख्य प्रसिद्ध है। इन्होंने वैदिक देवतावाद पर भी कार्य किया और मैक्डॉनल के 'Vedic Mythology' का हिन्दी अनुवाद किया।

७. जगद्गुरु शंकराचार्य भारती कृष्ण तीर्थ जी महाराज

जगद्गुरु जी महाराज ने तो वैदिक अनुसन्धान का अद्भुत कार्य किया। इनके द्वारा विशेष रूप से अथर्ववेद परिशिष्ट का अनुशीलन करके गणित के ऐसे सूत्र आविष्कृत किये गये जिन सूत्रों ने गणित के क्षेत्र में क्रान्ति ही मचा दी। इन सूत्रों की कुल संख्या उनतीस (२९) हैं जिनमें १६ सूत्र मुख्य हैं और शेष १३ उपसूत्र हैं। इन सूत्रों की विशद गणितीय व्याख्या (सूत्रों में सन्निहित वर्णों और प्रतीकों का विश्लेषण) करके प्राचीन तथा अर्वाचीन गणित में उनका प्रयोग किया तथा उनके आधार पर कठिन से कठिन प्रश्नों का समाधान (Solution of Problems) निकाला। ज्यामिति में गोलक के व्यास और परिधि के आनुपातिक सम्बन्ध 'π' (पाई) का दशमलव के सत्ताईस (२७) अङ्कों तक शुद्ध मान निकाला। इन सूत्रों के सङ्कलन और व्याख्या पर आधारित उनका ग्रन्थ 'Vedic Mathematics प्रसिद्ध है जिसका

सम्पादन करके डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी से प्रकाशित कराया है।

जगद्गुरु शङ्कराचार्य स्वामी भारती कृष्ण तीर्थ जी महाराज उच्चकोटि के तपस्वी साधक थे। कुछ लोगों का मानना है कि इन गणितीय वैदिक सूत्रों को उन्होंने अपनी सिद्धि के बल पर प्रत्यक्ष साक्षात्कार किया था। वे सूत्र अथर्ववेद परिशिष्ट में प्राप्त नहीं हैं। वास्तविकता जो भी हो, स्वयं स्वामी जी ने अनेकत्र विद्वानों के समक्ष उन सूत्रों के प्रयोग का सफल प्रदर्शन किया था।

८. महामहोपाध्याय पं. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी

पं. गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी जयपुर (राजस्थान) के महाराजा संस्कृत कालेज के प्राध्यापक थे और संस्कृत वाङ्मय के प्रकाण्ड विद्वान् थे। आपने म.म. पं. मधुसूदन ओझा की वेद व्याख्या पद्धति का अनुवर्तन करते हुए 'वैदिक एवं भारतीय संस्कृति' तथा 'पुराणपरिशीलनम्' नामक शोधपरक प्रसिद्ध ग्रन्थों की रचना की है।

९. लोकमान्य बालगङ्गाधर तिलक

भारतीय स्वातंत्र्य सङ्ग्राम के पुरोधा एवं महाराष्ट्र में गणेशोत्सव के माध्यम से जन-जन में राष्ट्रभक्ति की चेतना भरने वाले लोकमान्य तिलक जी महाराज संस्कृत वाङ्मय के मर्मज्ञ विद्वान् थे। आन्दोलनों में सक्रिय भूमिका निभाने वाले तिलक जी की देशभक्ति और संस्कृत भक्ति साथ-साथ चलती रही। जेल के अन्दर और बाहर उनकी सारस्वत साधना निरन्तर प्रवर्तमान थी। उन्होंने वैदिक साहित्य का गम्भीर अनुशीलन किया तथा पाश्चात्त्य विद्वानों के मत का दृढ़तापूर्वक सप्रमाण खण्डन किया कि आर्य भारतवर्ष से बाहर के थे। उन्होंने इस विषय पर 'ओरायन' और 'आर्कटिक होम इन वेदाज' नामक दो महत्त्वपूर्ण शोधात्मक ग्रन्थ लिखे जो वैदिक ज्योतिष की गणना पर आधारित हैं। इनके अतिरिक्त 'वैदिक कॉनोलॉजी एण्ड वेदांग ज्योतिष' नामक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शोधग्रन्थ की भी रचना इन्होंने की। रंगून (वर्मा) के मांडले जेल में निरुद्ध होने के काल में इन्होंने श्रीमद्भगवद्गीता पर अपना प्रसिद्ध भाष्य 'गीतारहस्य' लिखा, जो अत्यन्त शोधपूर्ण है। यह ग्रन्थ तिलक जी ने मूलतः मराठी भाषा में लिखा था। प्रकाशित होने के पश्चात् इसका अन्य हिन्दी आदि भाषाओं में अनुवाद हुआ।

१०. डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल

संस्कृत-शोध के क्षेत्र में डॉ. अग्रवाल का नाम अग्रणी विद्वानों में परिगणित है। आप काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में आचार्य पद प्रतिष्ठित थे और भारतीय पुरातत्त्व

के भी मान्य विद्वान् थे। इन्होंने वेद, व्याकरण और साहित्य के क्षेत्र में अनेक विषयों पर महत्त्वपूर्ण शोधग्रन्थों एवं निबन्धों का प्रणयन किया है। वेदविद्या, वेदरश्मि, पृथिवीपुत्र, Vision in Long Darkness, Thousand Selected Speeches, Vedic Leatures आदि तथा 'पाणिनिकालीन भारत' जैसे शोधात्मक ग्रन्थों के कारण डॉ. अग्रवाल की प्रसिद्धि है। इन्होंने बाणभट्ट के 'हर्षचरित' पर भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शोधात्मक ग्रन्थ का प्रणयन किया है।

११. आचार्य पं. बलदेव उपाध्याय

संस्कृत विद्या के क्षेत्र में शोध के लिए अप्रतिम योगदान कर्ता आचार्य पं. बलदेव उपाध्याय का नाम अविस्मरणीय है। संस्कृत वाङ्मय का कोई ऐसा क्षेत्र नहीं जिसमें आचार्य उपाध्याय जी ने अपनी शोध दृष्टि न डाली हो। वे बहुमुखी प्रतिभा के धनी तथा सतत अध्यवसायी थे। वेद, पुराण, दर्शन, साहित्य प्रभृति विषयों में उन्होंने न केवल स्वतंत्र लेखन किया अपितु महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का समीक्षात्मक सम्पादन भी किया। उनकी रचना दृष्टि सदैव अनुसन्धानात्मक रही। उन्होंने हिन्दी के माध्यम से संस्कृत वाङ्मय को अभिव्यक्त करने का अद्भुत प्रशंसनीय श्रम किया। अपने जीवन के अन्तिम दिनों में भी वे संस्कृत सेवा में संलग्न थे तथा उ.प्र. संस्कृत संस्थान द्वारा प्रकाशित, अठारह खण्डों के विशालकाय 'संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास' के प्रधान सम्पादक का कार्य कर रहे थे। उन्हें भारत सरकार ने 'पद्मभूषण' अलङ्करण से सम्मानित किया था।

पद्मभूषण आचार्य बलदेव उपाध्याय का जन्म उत्तर प्रदेश के बलिया जनपद के 'सोनबरसा' नामक ग्राम में १० अक्टूबर, १८९९ ई. में हुआ था। इनकी उच्चशिक्षा काशी में सम्पन्न हुई और इन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी के संस्कृत-विभाग में ३८ वर्षों तक अध्यापन कार्य किया और वहाँ से सेवानिवृत्ति के पश्चात् वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय में १९६२ ई. से १९६८ ई. तक सेवारत रहे। इस अवधि में उन्होंने पुराणेतिहास विभाग के अध्यक्ष और तत्पश्चात् अनुसन्धान संस्थान के निर्देशक (सञ्चालक) के दायित्व का भी निर्वहन किया। इनके इस कार्यकाल में विश्वविद्यालय के अनुसन्धान संस्थान ने शोध के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किया।

पद्मभूषण आचार्य पं. बलदेव उपाध्याय ने अपने लेखकीय अवदान से संस्कृत वाङ्मय को पर्याप्त समृद्ध किया। ग्रन्थों के लेखन और सम्पादन में इनकी शोध दृष्टि औरों के लिये अनुकरणीय रही। इनके द्वारा लिखित/सम्पादित कुछ प्रमुख कृतियाँ इस प्रकार हैं-

संस्कृत ग्रन्थ - भरतनाट्यशास्त्रम्, भामहकृत काव्यालङ्कारः,अग्निपुराणम्, विमर्श चिन्तामणिः, भक्ति चन्द्रिका, प्राकृतप्रकाशः, पारसीकप्रकाशः इत्यादि।

हिन्दी - भारतीय दर्शन, वैदिक साहित्य और संस्कृति, संस्कृत साहित्य का इतिहास, संस्कृत शास्त्रों का इतिहास, भारतीय साहित्य शास्त्र, बौद्धदर्शन मीमांसा, आचार्य शङ्कर (शङ्करदिग्विजय), काशी की पाण्डित्य परम्परा इत्यादि।

'संस्कृत वाङ्मय में श्रीराधा' नामक ग्रन्थ इनके स्वोपज्ञ शोध की प्रतिभा का अद्भुत निदर्शन है। 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' नामक ग्रन्थ में इनकी साहित्य-समीक्षा दर्शनीय है। इस इतिहास ग्रन्थ ने संस्कृत साहित्य के इतिहास लेखन में पथप्रदर्शक का कार्य किया है। 'भारतीय साहित्य शास्त्र' और 'संस्कृत शास्त्रों का इतिहास' आचार्य उपाध्याय जी की व्यापक अनुसन्धानात्मक प्रवृत्ति का द्योतन करते हैं। 'काशी की पाण्डित्य परम्परा' नामक विशालकाय ग्रन्थ को देखकर आचार्य उपाध्याय जी के शोध पाण्डित्य का लोहा मानना पड़ता है। काशी के समग्र इतिहास और उसकी साहित्यिक-सांस्कृतिक धरोहर का आलोडन करके आदिकाल से लेकर अपने समय तक के विद्वानों का व्यक्तित्व और कर्तृत्व निरूपित करना असाधारण कार्य है, जो आचार्य उपाध्याय जैसा धैर्यशाली शोधक महामनीषी ही कर सकता है।

संस्कृत वाङ्मय की समृद्धि में अप्रतिम योगदान के लिए भारत सरकार ने आचार्य उपाध्याय जी को १९८३ ई. में 'पद्मविभूषण' अलङ्करण से सम्मानित किया। इसके पूर्व १९६७ ई. में इन्हें महत्त्वपूर्ण 'राष्ट्रपति पुरस्कार' प्राप्त हो चुका था। उ.प्र. संस्कृत अकादमी द्वारा सर्वोच्च 'विश्वभारती' पुरस्कार प्रभृति अनेक पुरस्कार आपको प्राप्त थे।

सन् १९९९ ई. में सौ वर्ष की आयु पूरी होने के कुछ मास पूर्व ही आचार्य बलदेव उपाध्याय ने पाञ्चभौतिक शरीर का काशी में त्याग करके यशः कायत्व को प्राप्त किया।

हिन्दी माध्यम से संस्कृत शोध को नयी दिशा प्रदान करने वालों में अग्रणी आचार्य उपाध्याय जी का अवदान चिरस्मरणीय रहेगा।

संस्कृत शोध के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान करने वाले विद्वानों में, श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य, डॉ. राजेन्द्र लाल मित्र, जयदेव विद्यालङ्कार, आर.जी. भण्डारकर, एस. कृष्ण वर्मा, पी.एल. भार्गव, दयानन्द भार्गव, बी. वरदाचार्य, एम. कृष्णमाचारियर, काशी प्रसाद जायसवाल, जयचन्द्र विद्यालङ्कार, डॉ. सुक्थंकर, डॉ.

आर.एन. दाण्डेकर, प्रो. वि. राघवन्, डॉ. गङ्गानाथ झा, आचार्य रघुनाथ शर्मा, पं. रामप्रसाद त्रिपाठी, आचार्य रेवा प्रसाद द्विवेदी, प्रो. अमरनाथ पाण्डेय, डॉ. कपिलदेव द्विवेदी, डॉ. सूर्यकान्त, डॉ. उमाशङ्कर शर्मा ऋषि, डॉ. ब्रजबिहारी चौबे, प्रो. अभिराज राजेन्द्र मिश्र, प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी, प्रो. के. कुन्हन राजा, प्रो. मुकुन्द माधव शर्मा, प्रो. सत्यपाल नारंग, डॉ. एस.के. दे, डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय, डॉ. राजेन्द्र नानावटी, डॉ. वसन्त कुमार एम. भट्ट, प्रो. पी.जी. लाले प्रभृति मुख्य हैं।

अनेक पाश्चात्य प्राच्यविद् विद्वानों ने भी संस्कृत शोध के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं। पाश्चात्य विद्वानों के इस योगदान को कभी भी कम करके नहीं आँका जा सकता, क्योंकि उन्होंने पाश्चात्य पद्धति का आश्रय लेते हुए तथा भारतीय विद्वानों के तद्विषयक कार्यों का सहयोग लेते हुए परम्परागत तरीकों से अलग हटकर, प्राच्यविद्या के प्रति अपनी लगन और निष्ठा प्रदर्शित की। इनका अध्यवसाय चुनौती भरा था क्योंकि भारतीय विद्वानों के समान, संस्कृत विद्या में उनको वैसा आधार सुलभ न था। न तो उनका परिवेश संस्कृतमय था और न ही परम्परागत रूप से उन्हें संस्कृत का ज्ञान था। वे शास्त्रों की पद्धति से भी पूर्णतः परिचित न थे। ऐसी स्थिति में, प्राच्य विद्या (Oriental Learaing) के प्रति उनकी हार्दिक अभिरुचि, जिज्ञासा और कार्य निष्ठा (समर्पण) के कारण उन्होंने ऐसे शोधपरक कार्य किये कि वे स्वयं अचम्भे में थे और उनके कार्यों को देखकर भारतीयों को भी सोच की एक नयी दिशा मिली। इससे वे पर्याप्त लाभान्वित तो हुए ही, संस्कृत को भी विश्व व्यापकता का लाभ मिला। अतएव, यहाँ शोधार्थियों के लिए उनमें से कुछ प्रमुख पाश्चात्य विद्वानों का परिचय प्रस्तुत करना समीचीन होगा।

१. एफ. मैक्समूलर

जिन पाश्चात्य विद्वानों ने अपने लेखन, सम्पादन और शोधकार्य से संस्कृत वाङ्मय को समृद्ध किया, उनमें एफ. मेक्समूलर का नाम अग्रगण्य है। संस्कृत विद्या के प्रति उनके समर्पण और योगदान को देखते हुए भारतीय संस्कृतज्ञों ने उनके नाम का भारतीयकरण करके 'मोक्षमूलर' (मोक्षस्य मूलं राति लाति ददाति वेति मोक्षमूलरः) कहा। महामहोपाध्याय पं. रामावतार शर्मा इस प्रकार नामकरण करने में सिद्धहस्त थे।

एफ. मैक्समूलर का जन्म १८२३ ई. में हुआ था और वे १९०० ई. में दिवङ्गत हुए। इस प्रकार, उनका पूरा जीवन काल ७७ वर्षों का रहा।

मैक्समूलर अविभाजित जर्मनी के निवासी थे और वहाँ वे पाश्चात्य जगत् के

प्रतिष्ठित प्राच्यविद् के रूप में जाने जाते थे। वे ऋग्वेद को देखकर प्राच्यविद्या के प्रति आकृष्ट हुए तथा ज्यों-ज्यों संस्कृत विद्या की गहराई में गये, भारत के प्रति उनका अनुराग बढ़ता गया। उन्होंने सत्ताइस वर्षों तक निरन्तर कठिन श्रम करते हुए, १८४९ ई. से १८७५ ई. की अवधि में आचार्य सायणकृत भाष्य सहित सम्पूर्ण ऋग्वेद का सम्पादन करके चार खण्डों में प्रकाशित किया। चारों खण्डों में रायल आक्टेव साइज के कुल तीन हजार पृष्ठ हैं। मैक्समूलर द्वारा सम्पादित ऋग्वेद के इस संस्करण की विशेषता है कि उन्होंने ऋग्वेद के प्रायः सभी भाष्यों का अनुशीलन करके प्रारम्भ में प्रज्ञापूर्ण सुविस्तृत भूमिका लिखी है। इस भूमिका से ज्ञात होता है कि ऋग्वेद और भाष्यकार आचार्य सायण के प्रति उनकी कितनी गहरी आस्था थी! वे भारत की पाण्डित्य परम्परा और अद्भुत ज्ञान वैभव से इतने चमत्कृत (प्रभावित) थे कि उन्होंने एक जगह टिप्पणी में लिखा है कि 'यदि विश्व में वास्तविक ज्ञान का अनुसन्धान किया जाय तो वह केवल भारत में मिलेगा और वहाँ न केवल शास्त्रों के मर्मज्ञ पण्डितों में अपितु वहाँ सुरक्षित लाखों हस्तलिखित ग्रन्थों में।' मैक्समूलर की यह टिप्पणी उन्हें एक अतीव उदात्त सहृदय समीक्षक सिद्ध करती है। उन्होंने 'India : What can teach us?' (भारत हमें क्या शिक्षा दे सकता है?) नामक पुस्तक का प्रणयन करके औपनिषदिक ज्ञान को विश्व के सम्मुख उपस्थापित किया। इसी प्रकार, उन्होंने 'The Sacred Books of East' (प्राच्यदेश की पवित्र पुस्तकें) नामक ग्रन्थमाला के अन्तर्गत प्रायः दो दर्जन पुस्तकें प्रकाशित कीं जो मुख्यतः वेद, उपनिषद् और वैदिक वाङ्मय से सम्बद्ध थीं। इन प्रकाशनों से पाश्चात्त्य जगत् अचम्भित रह गया और उन लोगों की आँखें खुल गयीं जो वेदों को 'चरवाहों का गीत' और भारतीयों को गँवार मानते थे। इस प्रकार, मैक्समूलर ने पाश्चात्त्य जगत् में भारतीय ज्ञान के दोहन की रुचि जागृत की। परिणाम यह हुआ कि उस समय पराधीन भारत के ज्ञानभण्डार को लूटने के लिए हजारों प्राच्यविद् तत्पर हो गये। भारत में अंग्रेजों का शासन होने के कारण उन्हें मनचाही छूट और सुविधाएँ भी सरकार की ओर से मुहैया करायी गयीं। परिणामतः भारत में कार्यरत ब्रिटिश अधिकारियों तथा पाश्चात्त्य देशों से आये जिज्ञासु शोधार्थी विद्वानों ने गाँव-नगर सर्वत्र घूमकर यथेच्छ संस्कृत पाण्डुलिपियाँ एकत्र कीं। उन्हें वे अपने यहाँ ले गये। यहाँ भी रहकर, संस्थायें बनाकर सम्पादन, प्रकाशन और शोध किया। जार्ज ग्रियर्सन ने भारत का भाषायी सर्वेक्षण कर डाला और फादर कामिल बुल्के ने रामायण (रामकथा) पर अद्भुत शोधकार्य किया।

२. टी. आफ्रेट

आफ्रेट ने १८६१ से १८६३ ई. के मध्य समग्र ऋग्वेद का रोमन लिपि में सम्पादन किया। इनके द्वारा सम्पादित ऐतरेय ब्राह्मण का संस्करण आज भी सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। किन्तु संस्कृत जगत् में जिस महान् कार्य के लिए आफ्रेट का नाम आज भी गौरव के साथ लिया जाता है, वह है भारतवर्ष में उस समय तक उपलब्ध हस्तलिखित ग्रन्थों (पाण्डुलिपियों) की विशाल सूची- 'कैटालॉगस कैटालागोरम।' कई खण्डों में सम्पादित और प्रकाशित यह सूची, आफ्रेट के अद्भुत अध्यवसाय, कठिन परिश्रम, महान् धैर्य और अप्रतिम अनुसन्धान के प्रति समर्पण का जीवन्त उदाहरण है। संस्कृत वाङ्मय के विविध विषयों की एकत्र की गयी पाण्डुलिपियों की अकारादिवर्णानुक्रम से तैयार की गयी विवरणात्मक सूची, न केवल स्वयं में एक बहुत बड़ा शोध है अपितु शोध के असंख्य द्वार खोलती है। प्राचीन संस्कृत वाङ्मय में शोधार्थी जिज्ञासुजन के लिए आफ्रेट का यह विशिष्ट 'कैटालॉगस कैटालागोरम' वस्तुतः कल्पवृक्ष तुल्य है।

भारत की स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् संस्कृत के विद्वान् डॉ. वी. राघवन् ने उपलब्ध (नवीन) पाण्डुलिपियों को भी आफ्रेट के सूची पत्र में जोड़ कर और आफ्रेट की भूलों को सुधार कर 'न्यू कैटालॉगस कैटालागोरम' तैयार किया।

३. एच.एच. विल्सन

एच.एच. विल्सन ने १८५० ई. में सायण भाष्य पर आधारित ऋग्वेद का अंग्रेजी भाषा में अनुवाद करके प्रकाशित किया। इन्होंने मेघदूत का पाठशोधन करके उसका भी अंग्रेजी अनुवाद- 'दि क्लाउड मैसेंजर' नाम से किया। इनके ये दोनों ही कार्य उच्चकोटि के हैं।

४. आर.टी.एच. ग्रिफिथ

ग्रिफिथ महोदय काशीस्थ गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज के प्रिंसिपल रहे। इन्होंने चारों वेदों का अंग्रेजी में पद्यानुवाद किया और तत्पश्चात् वाल्मीकिरामायण का भी अंग्रेजी पद्यानुवाद किया।

ग्रिफिथ महोदय संस्कृत कालेज में जिस स्थान पर बैठकर पद्यानुवाद करते थे, वहाँ प्रस्तर का एक स्मारक बनाकर सुरक्षित किया गया है।

५. एच. ओल्डेन बर्ग

ओल्डेन बर्ग ने १९०९ ई. से १९१२ ई. के मध्य ऋग्वेद का जर्मन भाषा में

महाभाष्य (व्याख्या) करके प्रकाशित किया। यह महाभाष्य तब तक उपलब्ध भारतीय विद्वानों के ऋग्वेद-भाष्यों पर आधारित है। इससे ओल्डेन बर्ग के गहन अध्ययन और शोध का अनुमान किया जा सकता है। ओल्डेन बर्ग का यह कार्य वैदिक समालोचना की पराकाष्ठा माना जाता है।

६. मेक्डानेल

मेक्डानेल ने अपनी पुस्तक 'Vedic Mythology' (वैदिक देवतावाद) के द्वारा वैदिक सूक्तों के देवताओं की अवधारणा का सविस्तर आख्यान किया है। वेद की चारों संहिताओं में आये हुए पदों की एक सूची 'Vedic Index' के नाम से तैयार करके प्रसिद्ध विद्वान् ए.बी. कीथ के सहयोग से व्यवस्थित रूप से प्रकाशित है। वैदिक वाङ्मय में किये गये दोनों शोधकार्य अति महत्त्वपूर्ण हैं। इनके अतिरिक्त, मैक्डानेल ने 'History of Sanskrit Literature' नामक संस्कृत साहित्य का इतिहास ग्रन्थ भी लिखा है। इन्होंने संस्कृत व्याकरण विषयक दो पुस्तकें भी लिखी हैं।

७. ए.एफ. स्टेंजलर

स्टेंजलर ने वेदाङ्ग साहित्य पर महत्त्वपूर्ण कार्य किये हैं। गृह्य सूत्रों पर इनका कार्य महत्त्वपूर्ण है। आश्वलायन गृह्यसूत्र और पारस्कर गृह्यसूत्र का सम्पादन करके प्रकाशन कराया है।

८. ए.बी. कीथ

पाश्चात्य प्राच्यविदों में कीथ का नाम विशेष उल्लेखनीय है। कीथ ने कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता का समीक्षात्मक सम्पादन किया है। इन्होंने ऐतरेय तथा कौषीतकी ब्राह्मणों का अंग्रेजी अनुवाद भी किया है। संस्कृत साहित्य से सम्बद्ध इनके दो ग्रन्थ- 'Sanskrit Drama' और 'History of Sanskrit Literature' अति प्रसिद्ध और प्रामाणिक हैं। इनके द्वारा किया गया एक शोधकार्य- 'Religion and Philosophy of Veda & Upanisads' विशेष महत्त्वपूर्ण है।

९. ए. वेबर

वेबर ने सर्वप्रथम तीन भाष्यों के साथ शतपथ ब्राह्मण का आलोचनात्मक संस्करण- 'Critical Edition of Satapatha Brahmana' प्रकाशित किया। इन्होंने कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता का भी सम्पादन किया और कात्यायन श्रौत्र सूत्र का सान्वय प्रकाशन किया। १८५८ ई. में इन्होंने 'अद्भुत ब्राह्मण' का भी सम्पादन करके जर्मन अनुवाद सहित प्रकाशन किया। वैदिक वाङ्मय के साथ ही संस्कृत साहित्य पर भी इनका अच्छा अधिकार था। इनके द्वारा लिखित- 'History of Indian

Literature' नामक ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध है। इन्होंने बाणभट्ट के गद्य साहित्य (विशेषत: कादम्बरी) विषयक भी कार्य किया। कादम्बरी के सम्बन्ध में बाणभट्ट की भाषा को लेकर इनकी एक टिप्पणी विवादास्पद हो गयी थी। लम्बे समासों और दुरूह पदावलियों ने वेबर को परेशान कर दिया था।

१०. एम. विन्टरनित्ज

इन्होंने आपस्तम्ब गृह्यसूत्र का सम्पादन किया किन्तु इनकी ख्याति इनके ग्रन्थ- 'History of Indian Literature' से हुई।

११. ए.सी. बर्नेल

बर्नेल ने ब्राह्मण साहित्य की विशेषत: समालोचना की है और अनेक ब्राह्मण ग्रन्थों का सम्पादन किया है। इनके द्वारा सम्पादित ब्राह्मण हैं- सामविधान, देवताध्याय, वंश, आर्षेय और संहितोपनिषद् ब्राह्मण। बर्नेल ने इन ब्राह्मण ग्रन्थों का सम्पादन १८७३ से १८७७ ई. के बीच किया।

१२. आर. रॉथ

रॉथ ने डब्ल्यू.डी. ह्विटनी के साथ मिलकर शौनकीय शाखा की अथर्ववेद संहिता का सम्पादन करके सबसे पहले १८५६ ई. में प्रकाशित किया।

१३. एम. ब्लूम फील्ड

ब्लूम फील्ड और आर. गार्वे ने मिलकर पैप्पलाद शाखा के अथर्ववेद का सम्पादन करके १९०१ ई. में तीन खण्डों में प्रकाशित किया। इन दोनों ने अथर्ववेद की मंत्रमहासूची भी प्रकाशित की।

१४. सर विलियम जोंस

सर विलियम जोंस ने महाकवि कालिदास विरचित अभिज्ञान शाकुन्तल का अंग्रेजी में अनुवाद किया। जोंस द्वारा अनूदित अभिज्ञान शाकुन्तल को जर्मन विद्वान् महाकवि गेटे ने पढ़ा तो वह हर्ष विभोर हो गया। उसने कहा कि यदि पृथ्वी पर स्वर्ग है तो वह अभिज्ञान शाकुन्तल ही है। इसके बाद तो महाकवि की यह अमर नाट्य कृति पूरे योरोप में छा गयी और लोग कालिदास की तुलना शेक्सपीयर से करने लगे।

१५. कर्नल जेकब

यह अंग्रेज सैन्य अधिकारी जब कश्मीर में तैनात था तो उसे एक पतली सी पुस्तक मिली। संस्कृत जानने वाले पण्डित से इसे पढ़कर जेकब आश्चर्य से भर गया। यह पुस्तक थी 'वेदान्तसार'। उसने इसका विधिवत् अध्ययन कर इस पर जो 'नोट्स' लिखे वे अद्वैत वेदान्त में बेजोड़ हैं। फिर तो इस सैन्य अधिकारी को

प्राच्यविद्या के प्रति रुचि बढ़ी। उसने उपनिषदों का गहन अध्ययन किया और १८९१ ई. में 'उपनिषद् वाक्य कोश' जैसा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित कराया।

इनके अतिरिक्त अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने संस्कृत शोध के क्षेत्र में योगदान किया और आज भी कर रहे हैं।

संस्कृत विश्वविद्यालय

अति प्राचीनकाल से ही ऋषिकुलों और गुरुकुलों में संस्कृत विद्या का अध्ययन-अध्यापन होता चला आ रहा है। अनेक आचार्य स्वतंत्र रूप से अपेन घर पर शिष्यों को विद्या दान देते थे तथा उनका सम्पोषण भी करते थे। हमारी आर्ष आश्रम परम्परा में प्रथम आश्रम-ब्रह्मचर्य आश्रम में विद्यार्थी उपनयन संस्कार के पश्चात् वेदारम्भ करके संस्कृत विद्या का अध्ययन गुरु के सान्निध्य में रहते हुए पचीस वर्ष की आयु पर्यन्त करता था। धीरे-धीरे क्रमशः काल प्रभाव, परिवर्तित परिस्थितियों और वैदेशिक सम्पर्क तथा प्रभाव से शिक्षा प्रणाली में भी परिवर्तन हुआ। शिक्षा केन्द्रों का विवध रूपों में विकास हुआ।

भारत पर विदेशी आक्रमण से पूर्व अर्थात् सातवीं शताब्दी ई. तक ऐसे गुरुकुल और संस्कृत विद्यालंय राजाओं तथा श्रेष्ठियों द्वारा पोषित थे। इन आक्रमणकारियों एवं विधर्मी शासकों ने संस्कृत विद्या, गुरुकुलों और ग्रन्थालयों की अपूरणीय क्षति की। अत्याचार पूर्वक संस्कृत विद्यालय बन्द कराये गये, ध्वस्त किये गये और ग्रन्थालय जलाकर तहस नहस कर दिये गये। आचार्यों ने अत्याचारों के बावजूद, अपना धर्म मानते हुए, चोरी छिपे संस्कृत विद्या का अध्ययन अध्यापन करते हुए इसका संरक्षण किया। मुगलकाल में एक उदारवादी शासक दाराशिकोह हुआ किन्तु वह बहुत समय तक संरक्षण न दे सका। इस तरह मुसलमानों के शासन काल में पराधीन भारत में संस्कृत शिक्षा की दशा अत्यन्त शोचनीय रही किन्तु अंग्रेजों के शासन काल में कुछ संस्कृतप्रेमी अंग्रेज अधिकारियों द्वारा प्राच्य (संस्कृत) विद्या के प्रति सकारात्मक रवैया दिखलाने तथा पाश्चात्य प्राच्यविद् विद्वानों द्वारा ज्ञान विज्ञान के इस अपूर्व भण्डार की खोज के प्रति आकृष्ट होने से संस्कृत विद्या के क्षेत्र में उल्लेख्य कार्य हुए। संस्कृत-संस्थाओं को संरक्षण देने के साथ ही स्वयं अंग्रेज शासन द्वारा नयी संस्कृत पाठशालाओं की स्थापना की गयी और संस्कृत के विद्वानों का सम्मान करने के द्वारा उन्हें संरक्षण और प्रोत्साहन दिया गया। इस प्रकार, अंग्रेज सरकार ने कलकत्ता, वाराणसी और मद्रास में तीन संस्कृत कालेज स्थापित किये। स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व तक इन तीनों संस्कृत कालेजों में संस्कृत के धुरन्धर विद्वान्

07582297123

आचार्य अपने विषयों (वेद, व्याकरण, दर्शन, साहित्य आदि) का अध्यापन करते थे। महर्षि दयानन्द (और आर्य समाज) के प्रभाव से पश्चिमोत्तर भारत में अनेक अच्छे गुरुकुलों की स्थापना हुई जिनमें प्राचीन पद्धति से संस्कृत विद्या (प्रायः वेद और व्याकरण) के अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था हुई। उनमें से अधिकांश गुरुकुल आज भी चल रहे हैं।

भारत की स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत सरकार ने संस्कृत विद्या के महत्त्व को देखते हुए एक 'केन्द्रीय संस्कृत बोर्ड' का घटन किया जिसने भाषा और वाङ्मय के व्यापक प्रचार-प्रसार अध्ययन-अध्यापन के उपाय सुझाये तथा अपनी महत्त्वपूर्ण संस्तुतियाँ दीं। संस्कृत को 'मृतभाषा' के प्रवाद से उबारने का कार्य प्रभावी ढंग से प्रारम्भ हुआ।

स्वतंत्र भारत में संस्कृत के अध्ययन की दो पद्धतियाँ प्रचलित हुईं। पहली तो परम्परागत रूप से चली आ रही भारतीय (शास्त्रीय) पद्धति और दूसरी पाश्चात्य प्रभाव से प्रवर्तित आंग्ल पद्धति। दूसरी पद्धति में संस्कृत का अध्ययन-अध्यापन विद्यालयों में प्राथमिक, माध्यमिक और उच्च स्तर पर अन्य विषयों के साथ ऐच्छिक या वैकल्पिक रूप में होने लगा। उच्च स्तर पर पहुँच कर (स्नातकोत्तर कक्षा में) संस्कृत का अध्ययन एकल विषय के रूप में होता है और फिर शोध भी इसमें किया जा सकता है।

पारम्परिक पद्धति में छात्र प्रारम्भ से ही संस्कृत विद्या का अध्ययन एवं अभ्यास करता है। संस्कृत का विद्यार्थी अपने गुरु की सन्निधि में ही संस्कृत की ऊँची से ऊँची शिक्षा (अर्थात् शास्त्रों का सर्वाङ्गीण अध्ययन) प्राप्त करता था। किन्तु आधुनिक शिक्षा पद्धति में संस्कृत शिक्षा के क्षेत्र में भी परिवर्तन हुए और पठन-पाठन की दृष्टि से प्राथमिक, माध्यमिक और उच्चशिक्षा की शालाएँ (महाविद्यालय पर्यन्त) स्थापित हुईं। अन्ततः संस्कृत के लिए स्वतंत्र रूप से विश्वविद्यालयों की भी स्थापना हुई। यहाँ हम भारतवर्ष के प्रमुख संस्कृत विश्वविद्यालयों का संक्षिप्त परिचय दे रहे हैं-

१. सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

वाराणसी (काशी) में स्थापित विश्व के प्रथम संस्कृत विश्वविद्यालय का गौरव प्राप्त करने वाले वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय (सम्प्रति सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय) का इतिहास वट के बीज से विशाल वृक्ष विकसित होने जैसा है। इस संस्कृत विश्वविद्यालय की नींव अंग्रेजों ने ही डाली थी। २८ अक्टूबर,

१७९१ ई. में लार्ड कार्नवालिस ने काशी में एक संस्कृत पाठशाला, 'बनारस पाठशाला' के नाम से प्रारम्भ की। इसके प्रथम (संस्थापक) प्रधानाचार्य पं. काशीनाथ तर्कालङ्कार नियुक्त हुए। बाद के दिनों में इसका नाम बदलता रहा और यह क्रमशः हिन्दू कालेज, बनारस कालेज, संस्कृत कालेज और अन्ततः गवर्नमेण्ट क्वींस कालेज हुआ। १८२९ ई. में कैप्टन पी. रेसवी संस्कृत पाठशाला की प्रबन्ध समिति के मंत्री नियुक्त हुए। १८४३ ई. में इस पाठशाला की शिक्षा व्यवस्था प्रान्तीय सरकार के अधीन हो गयी और १८४४ ई. में इसके प्रिंसिपल जे. क्योर नियुक्त हुए और उसके बाद केमसन इस पद पर आये। केमसन के ही कार्यकाल में इस कालेज के भवन का निर्माण प्रारम्भ हुआ। केवल पत्थरों से ही गॉथिक शैली में निर्मित यह भवन अत्यन्त भव्य है और वर्तमान में संस्कृत विश्वविद्यालय का 'मुख्य भवन' कहा जाता है।

भारत के स्वतंत्र होने के पूर्व तक इस गवर्नमेण्ट क्वींस कालेज में संस्कृत के साथ-साथ अंग्रेजी का भी शिक्षण कार्य होता रहा। १८६१ ई. से १८७८ ई. तक इस कालेज के प्रिंसिपल प्राच्यविद्या के मर्मज्ञ विद्वान् डॉ. आर.टी.एच. ग्रिफिथ रहे। इनके कार्यकाल में यहाँ पं. बापूदेव शास्त्री और पं. राम शास्त्री जैसे उद्भट विद्वान् प्राध्यापक रहे। 'श्रीपण्डितः' पत्रिका के प्रकाशन का आरम्भ १८६६ ई. में यहीं से हुआ। १८८० में डॉ. थीबो और १८८८ ई. में डॉ. वेनिसन यहाँ के प्रिंसिपल नियुक्त हुए। इन दोनों के कार्यकाल में इस कालेज की उल्लेख्य प्रगति हुई। इसी अवधि में म.म. पं. गङ्गाधर शास्त्री और म.म. पं. सुधाकर द्विवेदी यहाँ प्राध्यापक रहे। डॉ. वेनिसन के ही कार्यकाल में प्रसिद्ध 'सरस्वती भवन' ग्रन्थालय का निर्माण (१९१४-१९१८ ई.) हुआ। क्वींस कालेज के प्रथम भारतीय प्राचार्य डॉ. गङ्गानाथ झा १९१८ ई. में नियुक्त हुए। उन्होंने संस्कृत की परीक्षाओं के सञ्चालन के लिए 'संस्कृत शिक्षा परिषद्' का घटन किया। १९३५ में म.म. पं. गोपीनाथ कविराज, १९३८ ई. में डॉ. मङ्गलदेव शास्त्री और १९४२ ई. में म.म. पं. नारायण शास्त्री खिस्ते यहाँ के प्राचार्य नियुक्त हुए थे। भारत के स्वतंत्र होने के पश्चात् १९५० ई. में प्रो. के.ए. अय्यर, १९५१ ई. में डॉ. त्रिभुवन नाथ उपाध्याय और १९५४ ई. में पं. कुबेरनाथ शुक्ल प्राचार्य नियुक्त हुए थे।

१९५८ ई. में उत्तर प्रदेश राज्य के तत्कालीन मुख्यमंत्री बाबू सम्पूर्णानंद ने गवर्नमेण्ट क्वींस (संस्कृत) कालेज को विश्व का प्रथम संस्कृत विश्वविद्यालय घोषित किया तथा इसे राज्य विश्वविद्यालय (State University) का दर्जा दिया।

इसका नामरकण हुआ- 'वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय।' विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, नई दिल्ली (U.G.C., New Delhi) ने इसे चार्टर्ड विश्वविद्यालय की मान्यता प्रदान की। इस सर्वप्रथम संस्कृत विश्वविद्यालय के सर्वप्रथम कुलपति नियुक्त हुए माननीय श्री आदित्य नाथ झा। इन्होंने बड़ी तत्परता से इस विश्वविद्यालय की सभी व्यवस्थाओं में व्यापक सुधार किया और इसे सुचारुता प्रदान की। इन्होंने विश्वविद्यालय के भविष्य का विचार करते हुए इसके परिसर का विस्तार किया। शास्त्रों के परम्परागत अध्ययन-अध्यापन को भी सुव्यवस्थित किया। नये भवनों और छात्रावासों का निर्माण हुआ। उत्तर प्रदेश तथा उ.प्र. के बाहर संस्कृत विद्यालयों, महाविद्यालयों को सम्बद्धता प्रदान कर यहाँ की परीक्षा में सम्मिलित होने तथा उपाधियों के अर्ह बनाया गया।

वर्तमान में यह विश्वविद्यालय अपने नये परिवर्तित, 'सम्पूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय' नाम से जाना जाता है। इसके साथ उ.प्र. एवं अन्य प्रान्तों के भी संस्कृत महाविद्यालय सम्बद्ध हैं।

एक लाख से अधिक पाण्डुलिपियों का भण्डार, 'सरस्वती भवन ग्रन्थालय' इसी विश्वविद्यालय के अन्तर्गत है। यह अपने उत्कृष्ट प्राचीन एवं आर्वाचीन प्रकाशनों के लिए विश्वभर में जाना जाता है। पारम्परिक विद्याओं और शास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन के अतिरिक्त अब अनेक नवीन विषयों- कम्प्यूटर, शिक्षाशास्त्र, विदेशी भाषाएँ, भाषा विज्ञान आदि का भी अध्ययन-अध्यापन हो रहा है। आयुर्वेद तथा संगीत की भी शिक्षा यहाँ दी जा रही है। यहाँ ज्योतिर्विभाग के अन्तर्गत वेधशाला का भी निर्माण हुआ है। इसके दक्षिणी प्रवेश द्वार के पास ही पुरातत्त्व सङ्ग्रहालय है। शोध की उच्चस्तरीय सुविधा प्रदान करने के लिए एक निदेशक की देखरेख में अनुसन्धान-प्रभाग भी स्थापित है और नियमित रूप से शोध पत्रिका 'सारस्वती सुषमा' का प्रकाशन होता है।

इस विश्वविद्यालय में विदेशी छात्र भी अध्ययन एवं शोध के लिए आते हैं। वे विशेषतः बौद्ध दर्शन एवं पालि भाषा का अध्ययन करते हैं। उनके लिए पृथक् अन्ताराष्ट्रिय छात्रावास की व्यवस्था है। लेह-लद्दाख, सिक्किम, भूटान और बौद्धमठों द्वारा संचालित बौद्ध-अध्ययन केन्द्रों में यहाँ के पाठ्यक्रमानुसार अध्यापन होता तथा इसी विश्वविद्यालय द्वारा उनकी परीक्षाएँ सञ्चालित होती हैं।

अन्य विश्वविद्यालयों के समान ही इस विश्वविद्यालय को भी विश्वविद्यालय अनुदान आयोग तथा शासन द्वारा अनुमन्य सुविधाएँ प्राप्त हैं।

२. श्री कामेश्वर सिंह दरभङ्गा संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभङ्गा, बिहार

भारतवर्ष में दूसरे क्रम पर स्थापित होने वाला संस्कृत विश्वविद्यालय बिहार प्रान्त के दरभङ्गा नामक नगर में स्थित श्री कामेश्वर सिंह दरभङ्गा संस्कृत विश्वविद्यालय है। मिथिलाञ्चल अति प्राचीनकाल से ही विद्या वैभव सम्पन्न रहा है। यहाँ के शासक (दरभङ्गा नरेश) विद्या प्रेमी और विद्वानों के समादरकर्ता के रूप में विख्यात रहे हैं। उनमें सदैव से संस्कृत विद्या के संरक्षण और उन्नयन की प्रवृत्ति रही है। दि. ३० मार्च, १९६० को महाराजाधिराज श्री कामेश्वर सिंह द्वारा दिये गये दान से दरभङ्गा में इस संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना २६ जनवरी, १९६१ ई. को हुई और दर्शनशास्त्र के प्रख्यात विद्वान् म.म. डॉ. उमेश मिश्र इसके प्रथम कुलपति नियुक्त हुए साथ ही उच्चकोटि के विद्वान् अध्यापक नियुक्त हुए। नौ निकायों के अन्तर्गत परम्परागत रूप से शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन होता है। स्नातकोत्तर अध्यापन हेतु प्राध्यापकों के ३३ पद हैं जो शोध निर्देशन भी करते हैं। इस विश्वविद्यालय से बिहार प्रान्त के प्रायः सौ संस्कृत महाविद्यालय सम्बद्ध हैं। प्राचीन संस्कृत पाण्डुलिपियों के संरक्षण के अतिरिक्त ग्रन्थ प्रकाशन का भी कार्य होता है और अभी तक १२५ ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। शोध पत्रिका 'मनीषा' का प्रकाशन १९७४ ई. में प्रारम्भ हुआ। आगे चल कर इसका नाम 'विश्वमनीषा' हुआ और सम्प्रति 'संस्कृत मनीषा' के नाम से प्रकाशित होती है। वर्तमान में बत्तीसवें कुलपति प्रो. देवनारायण झा हैं।

३. राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान

केन्द्र सरकार द्वारा घटित संस्कृत आयोग (१९५६-५७ ई.) की संस्तुतियों के अनुपालन में नयी दिल्ली में 'राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान' की स्थापना १५ अक्टूबर, १९७० ई. को एक स्वायत्तशासी संस्था के रूप में हुई। इस संस्था का उद्देश्य भारत सरकार के मानव संसाधन विकास मंत्रालय द्वारा प्रवर्तित संस्कृतविषयक योजनाओं को प्रभावशाली ढंग से कार्यान्वित करना है। ७ मई, २००२ ई. को केन्द्र सरकार ने इसे मानित विश्वविद्यालय (Deemed University) का दर्जा प्रदान किया। इस प्रकार, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान विश्व का सबसे बड़ा संस्कृत विश्वविद्यालय हो गया। यह अपने विभिन्न परिसरों के माध्यम से पूरे भारतवर्ष में व्याप्त है और अनेक आदर्श संस्कृत महाविद्यालयों को इसने सम्बद्धता भी प्रदान की है।

केन्द्र सरकार का मानव संसाधन विकास मंत्री पदेन संस्थान का अध्यक्ष होता है। शेष प्रबन्ध तंत्र-कुलपति, कुलसचिव आदि अन्य विश्वविद्यालयों की ही भाँति होते हैं। संस्थान प्रारम्भ में किराये के भवनों में अवस्थापित था किन्तु अब

उसका अपना नवनिर्मित भवन, नयी दिल्ली के जनकपुरी सांस्थानिक क्षत्र में अवस्थित है। यहाँ उसका केन्द्रीय कार्यालय है जहाँ से वह पूरे देश में संचालित अपने परिसरों, संस्थाओं तथा अन्य गतिविधियों पर नियंत्रण रखता है। राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान (मानित विश्वविद्यालय) के कुल दस परिसर अधोलिखित हैं-

१. राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, गङ्गानाथ झा परिसर, चन्द्रशेखर आजाद उद्यान, इलाहाबाद-२११००८ (उ.प्र.)।
२. राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, श्री सदाशिव परिसर, पुरी-७५२००१ (उड़ीसा)।
३. राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, श्री रणबीर परिसर, कोट भलवाल, जम्मू-१८११२२ (जम्मू-कश्मीर)।
४. राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, गुरुवायूर परिसर, पुरणट्टूकर, त्रिचूर-६८०५५१ (केरल)।
५. राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, जयपुर परिसर, त्रिवेणी नगर, गोपालपुरा बाईपास, जयपुर-३०२०१८ (राजस्थान)।
६. राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, लखनऊ परिसर, विशालखण्ड-४, गोमती नगर, लखनऊ-२२६०१० (उ.प्र.)।
७. राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, राजीव गांधी परिसर, शृङ्गेरी-५७७१३९, जिला-चिकमंगलूर (कर्णाटक)।
८. राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, गरली परिसर, परागपुर-१७७१०८, जिला-कांगड़ा (हिमाचल प्रदेश)।
९. राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, भोपाल परिसर, संस्कृत मार्ग, बाग सेवानिया, भोपाल-४६२०४३ (म.प्र.)।
१०. राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, के.जे. सोमैया संस्कृत विद्यापीठ, एस.आई.एम.एस.आर. बिल्डिंग, विद्या विहार, मुम्बई-४०००७७ (महा.)।

उपर्युक्त परिसरों के अतिरिक्त वर्तमान में इक्कीस आदर्श संस्कृत महाविद्यालय और चार संस्कृत शोध संस्थान भी इससे सम्बद्ध हैं जो भिन्न-भिन्न प्रान्तों में स्थित हैं। इनमें नियुक्तियाँ, वित्त, अध्ययन-अध्यापन, शोध और परीक्षा व्यवस्था सब प्रकार से राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान के अधीन है। प्रबन्धकीय व्यवस्था के लिए संस्थान इनकी प्रबन्ध समिति के अध्यक्ष और सदस्यों को नामित करता है जिसकी स्वीकृति मा.सं.वि. मंत्रालय देता है।

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान संस्कृत के अतिरिक्त पालि और प्राकृत भाषा के

संरक्षण और संवर्धन की योजनाएँ भी सञ्चालित करता है। संस्थान के उपर्युक्त दसों परिसरों और सभी आदर्श महाविद्यालयों में समान पाठ्यक्रम लागू है और परम्परागत पद्धति में प्रथमा से आचार्य पर्यन्त कक्षाओं में संस्कृत माध्यम से शिक्षण एवं परीक्षण कार्य किया जाता है। संस्थान इन पाठ्यक्रमों में दूरस्थ शिक्षा (Distance Education) का कार्यक्रम भी चलाता है और विगत कुछ वर्षों पूर्व 'मुक्त स्वाध्याय पीठ' की स्थापना करके इस दिशा में प्रभावशाली ढंग से पाठ्यक्रम संचालित किया जा रहा है।

नयी दिल्ली स्थित संस्थान के मुख्य परिसर के अतिरिक्त अन्य दसों परिसरों में शोधकार्य कराये जाते हैं। इलाहाबाद स्थित गङ्गानाथ झा परिसर में मुख्य रूप से शास्त्र विषयक शोध ही होते हैं। अन्य सम्बद्ध शोध संस्थानों में स्वतंत्र रूप से विविध विषयों में शोध हो रहे हैं।

अध्यापकों का स्थानान्तरण एक परिसर से दूसरे परिसर में किया जाता है और उन्हें मुख्य परिसर (नयी दिल्ली) में भी स्थानान्तरित किया जा सकता है। प्राशासनिक अधिकारियों (प्राचार्य) के लिए भी यह व्यवस्था लागू है।

संस्थान अपने यहाँ राष्ट्रिय एवं अन्ताराष्ट्रिय संस्कृत सम्मेलनों और गोष्ठियों तथा कार्यशालाओं का नियमित आयोजन करता है इसके अतिरिक्त अन्य संस्थाओं को भी इसके लिए वित्तीय साहाय्य प्रदान करता है। संस्कृत के महत्त्वपूर्ण प्रकाशनों के लिए भी यह व्यवस्था है। संस्थान पूरे देश में परास्नातक और शोध स्तर पर छात्रों को योग्यता और उपलब्धता के आधार पर छात्रवृत्तियाँ प्रदान करता है तथा चयनित विद्यालयों में अध्यापन कार्य हेतु अध्यापकों को मानदेय राशि भी प्रदान करता है।

भारत सरकार की संस्कृत-भाषा और साहित्य के प्रोत्साहन हेतु प्रारम्भ की गयी कई योजनाओं का कार्यान्वयन राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान करता है।

संस्कृत के प्रौढ़ विद्वानों को 'शास्त्रचूड़ामणि' योजना के अन्तर्गत दो वर्षों (अधिकतम तीन वर्षों तक) के लिए स्थिर मानदेय राशि प्रदान करना। ये 'शास्त्र चूड़ामणि' विद्वान् संस्थान अथवा अन्य किसी महाविद्यालय, विश्वविद्यालय आदि शिक्षण संस्था में अपनी सारस्वत सेवायें देते हैं।

संस्कृत के स्तरीय ग्रन्थों का क्रय करना। ये ग्रन्थ संस्थान द्वारा सूचीबद्ध संस्थाओं/ग्रन्थालयों को निःशुल्क प्रदान किये जाते हैं।

दकन कालेज, पुणे में ई.पू. १५०० से लेकर १९०० ई. तक की कालावधि

में उपलब्ध संस्कृत वाङ्मय के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में 'संस्कृत विश्वकोश' निर्माण योजना को वित्तीय अनुदान प्रदान करना।

चुनी हुई संस्थाओं को संस्कृत एवं सम्बद्ध गतिविधियों के संचालन के लिए आर्थिक सहायता करना।

असाधारण वैदुष्य और योग्यता सम्पन्न संस्कृत के विद्वानों का 'राष्ट्रपति सम्मान' के लिए प्रतिवर्ष निर्धारित संख्या में चयन तथा उन्हें रु. पाँच लाख की एकमुश्त सम्मान रिश प्रदान करना।

संस्कृत प्रचार-प्रसार के लिए लगी हुई स्वयंसेवी संस्थाओं को अनुदान आदि सहायता देकर प्रोत्साहित करना।

संस्कृत वाङ्मय का राष्ट्रिय ई-डाटा बैंक बनाना।

प्रतिवर्ष विशिष्ट नामित व्याख्यानमालाओं का आयोजन करना।

संस्कृत शोध पत्रिका 'संस्कृतविमर्शः' का प्रकाशन करना।

गङ्गानाथ झा परिसर एवं अन्य परिसरों में संग्रहीत पाण्डुलिपियों का संरक्षण एवं प्रकाशन।

इस प्रकार, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान जिन उद्देश्यों के लिए स्थापित किया गया है, उनकी पूर्ति की दिशा में सतत अग्रेसर है।

४. श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नयी दिल्ली

यह मानित संस्कृत विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली के कुतुब सांस्थानिक क्षेत्र कटवरिया सराय में अवस्थित है। इस विश्वविद्यालय की स्थापना, विजयादशमी पर्व के दिन आठ अक्टूबर, १९६२ ई. को अखिल भारतीय संस्कृत साहित्य सम्मेलन के द्वारा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ के रूप में की गयी थी। इसके प्रथम कुलपति प्रो. मण्डन मिश्र थे। नवम्बर, १९८७ ई. में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने इसे डीम्ड यूनिवर्सिटी का दर्जा प्रदान किया तब इसका नाम श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ हुआ। इसके पूर्व यह विद्यापीठ राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान के अधीन सञ्चालित होता था। डीम्ड यूनिवर्सिटी बन जाने के बाद इसका उत्तरोत्तर विकास हुआ। १९९४ में प्रो. वाचस्पति उपाध्याय के कुलपति बनने के बाद इसका विकास तीव्र गति से हुआ तथा परिसर भी सुविधासम्पन्न हुआ। वर्तमान में यहाँ चार सङ्कायों के अन्तर्गत सञ्चालित बीस विभागों में संस्कृत विद्या के परम्परागत विषयों के अतिरिक्त शिक्षाशास्त्र के शिक्षण-प्रशिक्षण की भी व्यवस्था है। इसका प्रकाशन विभाग महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन कर रहा है। अपने सेवाकाल में ही प्रो.

वाचस्पति उपाध्याय के सहसा हुए दुःखद निधन के पश्चात् प्रायः विगत दो वर्षों से अभी तक किसी स्थायी कुलपति की नियुक्ति नहीं हुई है।

५. श्री जगन्नाथ संस्कृत विश्वविद्यालय, श्री विहार, पुरी

संस्कृतानुरागी जननेता, उड़ीसा प्रान्त के तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री जानकी वल्लभ पटनायक के सत्प्रयत्न से राज्य सरकार ने इस संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना सात जुलाई, १९८१ ई. (०७.०७.१९८१) को की। समुद्र के सुरम्य तट पर इसका परिसर सौ एकड़ विस्तृत है। इसके प्रथम कुलपति डॉ. प्रह्लाद प्रधान थे। उसके बाद प्रो. सत्यव्रत शास्त्री कुलपति हुए। वर्तमान कुलपति प्रो. गङ्गाधर पण्डा हैं। यहाँ परम्परागत रूप से वेद, व्याकरण, साहित्य, वेदान्त, न्याय, धर्मशास्त्र, पुराणादि विषयों के साथ ही आधुनिक शिक्षाशास्त्र का भी पठन-पाठन होता है। विश्वविद्यालय की शोध पत्रिका 'श्री जगन्नाथ ज्योतिः' षाण्मासिकी और वार्ता पत्र 'श्री विहार भारती' त्रैमासिक है। पाण्डुलिपियों के प्रकाशन की परियोजना भी चल रही है।

६. जगद्गुरु रामानन्दाचार्य राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय, जयपुर

यह संस्कृत विश्वविद्यालय जयपुर नगर से प्रायः बीस कि.मी. दूर दिल्ली मार्ग पर ग्राम-मदाऊँ, पो.-भाकरोटा में अवस्थित है। इसकी स्थापना छः फरवरी, २००१ ई. (०६.०२.२००१) में किराये के भवन में हुई थी। शिक्षण कार्य एक वर्ष पश्चात् ०६.०२.२००२ को प्रारम्भ हुआ। राजस्थान सरकार द्वारा स्थापित इस विश्वविद्यालय के वर्तमान परिसर का विकास और भवनों का निर्माण श्री श्री १००८ महन्त श्री नारायण दास जी महाराज, त्रिवेणी धम, शाहपुरा, जयपुर के वित्तीय साहाय्य से हुआ। इसके संस्थापक कुलपति प्रो. मण्डन मिश्र थे। यहाँ छः सङ्कायों के अन्तर्गत वेद, व्याकरण, साहित्य, दर्शन, ज्योतिष और शिक्षा शास्त्रादि विषयों का पठन-पाठन होता है। विश्वविद्यालय का पुस्तकालय अति समृद्ध है। यहाँ २००४ ई. में अनुसन्धान केन्द्र की स्थापना हुई है तथा पाण्डुलिपियों का संरक्षण भी होता है। विश्वविद्यालय से अभी तक १६ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। २००६ ई. में यहाँ आठ शोध पीठों की स्थापना हुई जो इस प्रकार हैं- गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी व्याकरण पीठ, सवाई जयसिंह ज्योतिर्विज्ञान पीठ, भट्टमथुरा नाथ शास्त्री साहित्यपीठ, आशुकवि नित्यानन्द शास्त्री आधुनिक साहित्यपीठ, पं. मधुसूदन ओझा वेदविज्ञान पीठ, रामानन्दाचार्य वेदान्तदर्शनपीठ, पट्टभिराम शास्त्री मीमांसापीठ और महाकवि ज्ञानसागर जैन दर्शनपीठ। इन पीठों पर तत्तत् शास्त्रों के निष्णात प्रौढ़ विद्वान् मानद आचार्य के रूप में नियुक्त होकर विशिष्ट शोधकार्य करते हुए शोध निर्देशन भी करते

हैं। 'वयम्' नाम से विश्वविद्यालय की षाण्मासिकी शोध पत्रिका (संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजी- त्रिभाषायुत) तथा 'प्रवृत्तिः' नामक त्रैमासिक वार्ता पत्र प्रकाशित होता है।

७. महर्षि पाणिनि संस्कृत एवं वैदिक विश्वविद्यालय, उज्जैन

इस संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना मध्यप्रदेश शासन द्वारा महाकाल की पावन नगरी उज्जयिनी में दिनाङ्क १७ अगस्त, २००८ ई. को की गयी। यह प्रारम्भ में विक्रम विश्वविद्यालय परिसर में स्थित बिरला शोध संस्थान के भवन में अवस्थित हुआ किन्तु अब इसके नवीन परिसर और प्राशासनिक तथा शैक्षणिक भवन बन गये हैं। इसके प्रथम कुलपति संस्कृतज्ञ इतिहास वेत्ता तथा उज्जैन सम्भाग के सेवानिवृत्त आयुक्त डॉ. मोहन गुप्त नियुक्त हुए थे किन्तु कार्यकाल पूरा होने से पूर्व ही उन्हें पद से त्यागपत्र देना पड़ा। तत्पश्चात् द्वितीय कुलपति के रूप में, कालिदास संस्कृत अकादमी के पूर्व निदेशक, संस्कृत के विद्वान् महाकवि प्रो. मिथिला प्रसाद त्रिपाठी नियुक्त हुए। उनके कुशल निर्देशन में विश्वविद्यालय प्रगति पथ पर अग्रसर है। अध्यापकों के अनेक पद सर्जित हैं किन्तु अभी स्थायी नियुक्तियाँ कुछ ही हो सकी हैं। अभी यहाँ मुख्यतः वेद, व्याकरण, साहित्य और ज्योतिष का पठन-पाठन हो रहा है। परीक्षाओं का सञ्चालन यह विश्वविद्यालय अपने स्थापनाकाल से ही कर रहा है। अभी राज्य सरकार के अनुदान से इसका सञ्चालन हो रहा है।

८. कवि कुलगुरु कालिदास संस्कृत विश्वविद्यालय, नागपुर (महाराष्ट्र)

इस संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना महाराष्ट्र सरकार ने १८ सितम्बर, १९९७ ई. में की। इसका (मुख्य) शैक्षणिक परिसर नागपुर नगर से उत्तर 'रामटेक' नामक स्थान पर है। (महाकवि कालिदास के प्रसिद्ध गीतिकाव्य 'मेघदूत' के नायक यक्ष ने कुबेर से शाप मिलने पर वर्ष पर्यन्त यहीं (रामगिरि) पर प्रवास किया था और यहीं से मेघ को दूत बनाकर अपनी प्रिया के पास अलकापुरी को भेजा था।) विश्वविद्यालय का प्राशासनिक कार्यालय नागपुर नगर में एन.आई.जी. काम्प्लेक्स में छठीं मंजिल पर है। विश्वविद्यालय में पाँच सङ्काय हैं जिनके अन्तर्गत संस्कृत विद्या के विभिन्न विषयों का अध्यापन एवं शोध होता है। इसके प्रथम कुलपति प्रो. पङ्कज चाँदे थे। वर्तमान कुलपति प्रो. उमा वैद्य हैं।

९. सोमनाथ संस्कृत विश्वविद्यालय, सोमनाथ, गुजरात

इस संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना हेतु दि. ०४ नवम्बर, २००४ ई. को प्राचार्य डॉ. गिरीश ठाकर ओ.एस.डी. नियुक्त हुए। दि. १२.०४.२००५ को विश्वविद्यालय

यह अधिनियम स्वीकृत हुआ और ०१ फरवरी, २००६ को सोमनाथ संस्कृत विश्वविद्यालय विधिवत् अस्तित्व में आया। इसके प्रथम कुलपति प्रिंसिपल पङ्कज जानी नियुक्त हुए। १७ फरवरी, २००६ ई. को इसे विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की मान्यता मिली और दि. २० जुलाई, २००६ से पठन-पाठन का शुभारम्भ हुआ। इसका प्रथम दीक्षान्त समारोह २६ अगस्त, २००८ ई. को आयोजित हुआ। संस्कृत विद्या के सभी पारम्परिक विषयों का पठन-पाठन एवं शोध होता है। शिक्षा शास्त्र प्रशिक्षण, आधुनिक विज्ञान, हिन्दी, गुजराती एवं अंग्रेजी की कक्षायें भी चलती हैं।

१०. राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति (आन्ध्र प्रदेश)

१९६१ ई. में इस संस्था की स्थापना तिरुपति संस्कृत महाविद्यालय के रूप में हुई। १९७६ ई. में यह केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ के रूप में घोषित हुआ। नवम्बर, १९८७ ई. में इसे डीम्ड यूनिवर्सिटी का दर्जा प्राप्त हुआ और इसका नाम राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ हो गया। इसके पूर्व केन्द्रीय विद्यापीठ के रूप में यह राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान के अधीन था। इसके प्रथम कुलपति प्रो. रामानुज ताताचार्य बनाये गये थे। सम्प्रति कुलपति हैं प्रो. हरेकृष्ण शतपथी। यहाँ संस्कृत के परम्परागत विषयों के अतिरिक्त आधुनिक विषयों और हिन्दी, तेलुगू आदि भाषाओं का भी पठन-पाठन होता है।

११. वेङ्कटेश्वर वैदिक विश्वविद्यालय, तिरुपति (आन्ध्र प्रदेश)

यह वैदिक विश्वविद्यालय, तिरुपति तिरुमला देवस्थानम् के द्वारा २००६ ई. में वेद-वेदांग के शास्त्रीय पठन-पाठन तथा वेदों की परम्परागत पद्धति के संरक्षण के लिए स्थापित किया गया है। इसका समस्त प्रबन्ध कार्य और वित्तीय संसाधन देवस्थानम् के अधीन है। यहाँ वेदों की तत्तत् शाखाओं कें पारङ्गत वैदिक विद्वान् वेदों की परम्परात पद्धति से अध्यापन करते हैं तथा छात्रों को आधुनिक संसाधनों के प्रयोग से आधुनिक विषयों का भी ज्ञान कराया जाता है। इसके प्रथम कुलपति प्रो. सुदर्शन शर्मा थे। वर्तमान कुलपति प्रो. के.ई. देवनाथन् हैं।

१२. उत्तराखण्ड संस्कृत विश्वविद्यालय, हरिद्वार

उत्तर प्रदेश के विभाजन के पश्चात् उत्तराखण्ड प्रान्त का निर्माण हुआ। उत्तराखण्ड प्रान्त के अन्तर्गत जितने भी संस्कृत महाविद्यालय थे, उनकी सम्बद्धता सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से थी। किन्तु नये राज्य के निर्माण के साथ, वे प्रथमतया हेमवती नन्दन बहुगुणा विश्वविद्यालय, श्रीनगर, गढ़वाल से सम्बद्ध कर दिये गये और इनके नवीन पाठ्यक्रम निर्माण, तथ परीक्षा सञ्चालन का

दायित्व वहाँ के संस्कृत विभागाध्यक्ष प्रो. रामप्रताप तिवारी को दे दिया गया। उत्तराखण्ड सरकार ने वर्ष भर बाद २१ अप्रैल, २००५ ई. में उत्तराखण्ड संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना करके उन सभी संस्कृत महाविद्यालयों को इससे सम्बद्ध कर दिया। विश्वविद्यालय हरिद्वार में स्थापित किया गया और इसके प्रथम कुलपति श्री ब्रह्मस्वरूप ब्रह्मचारी नियुक्त हुए। सम्प्रति ८० से अधिक संख्या में महाविद्यालय इससे सम्बद्ध हैं। वर्तमान कुलपति प्रो. महावीर प्रसाद अग्रवाल हैं।

१३. श्री शङ्कराचार्य संस्कृत विश्वविद्यालय, कालडी (केरल)

केरल प्रान्त के एर्णाकुलम जिला में पूर्णानदी के तट पर 'कालडी' नामक ग्राम में अवस्थित है जहाँ आदि शङ्कराचार्य ने जन्म लिया था। उन्हीं की स्मृति में उसी स्थान पर इस संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना १९९३ ई. में हुई है। इस संस्कृत विश्वविद्यालय में कुल नौ सङ्काय हैं जिनके अन्तर्गत नामित विभागों में संस्कृत विद्या के तत्तद् विषयों का अध्यापन एवं शोध होता है। इसके वर्तमान कुलपति प्रो. एन.सी. दिलीप कुमार हैं।

१४. कुमार भास्कर वर्मा संस्कृत एवं पुरातन शिक्षा विश्वविद्यालय, नलबाड़ी

असम सरकार ने अभी २०११ ई. में असम प्रान्त के नलबाड़ी जनपद में इस संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना की है। डॉ. दीपक कुमार शर्मा इसके प्रथम कुलपति नियुक्त कियें गये हैं। यह विश्वविद्यालय यद्यपि अभी शैशवावस्था में है किन्तु इसके माध्यम से सूदर पूर्वोत्तर भारत में संस्कृत विद्या के लिए अपार सम्भावनाओं के द्वार खुल गये हैं। अभी यहाँ वेद, व्याकरण, साहित्य और ज्योतिष के पठन-पाठन की व्यवस्था है।

संस्कृत शोध संस्थान

भारतवर्ष में आधुनिक संस्कृत शोध का प्रारम्भ अंग्रजी शसन काल में हुआ। वस्तुतः पाश्चात्य संस्कृत विद्यानुरागी प्राच्यविदों को जब प्राचीन पाण्डुलिपियों में भरे हुए विविध शास्त्रों के ज्ञान-विज्ञान का भान हुआ, तब उनका सर्वप्रथम प्रयत्न उन पाण्डुलिपियों के सङ्कलन और भारतीय विद्वानों के सहयोग से उनका विषय ज्ञान प्राप्त करने का हुआ। उन्होंने पाण्डुलिपियों के तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन, सम्पादन और प्रकाशन का कार्य प्रारम्भ किया। पाण्डुलिपियों के सङ्ग्रह केन्द्र ही आगे चलकर शोध संस्थानों के रूप में विकसित हुए। स्वतंत्र भारत में नवीन शोध केन्द्रों की पृथग् भी स्थापना हुई किन्तु शोध संस्थानों तथा संस्कृत विश्वविद्यालयों का सम्बन्ध पाण्डुलिपियाँ-सङ्ग्रहालयों से आज भी बना हुआ है।

वर्तमान काल में तो अनेक प्रकार के लक्ष्य रखकर संस्कृत शोध संस्थानों की स्थापना हो रही है और पूरे देश में इनकी संख्या हजारों में है। इनमें भी अनेक संस्कृत शोध संस्थान/केन्द्र नाम मात्र के होंगे जो व्यक्तिगत लाभ के लिए खोले गये होंगे; किन्तु जहाँ वस्तुतः शोधकार्य हो रहा है और जो प्रसिद्ध हैं, उनमें से प्रमुख संस्कृत शोध संस्थानों/केन्द्रों की सूची/विवरण देने का प्रयत्न किया जा रहा है।

१. लन्दन स्थित 'रॉयल एसियाटिक सोसायटी' की तर्ज पर भारत में भी १७८४ ई. में कलकत्ता में 'एसियाटिक सोसायटी (ऑफ बेंगाल)' की स्थापना हुई। पाण्डुलिपि सङ्ग्रहालयों के परिचय के क्रम में इस संस्था का परिचय दिया जा चुका है। इस शोध संस्थान में पहला कार्य यह हुआ कि यहाँ की पाण्डुलिपियों का विवरणात्मक सूची पत्र तैयार किया गया। १७९६ ई. में यहाँ एक पुरातत्त्व संग्रहालय और दिसम्बर, १८३४ ई. में आर्ट गैलरी की स्थापना हुई। यहाँ से एक शोध पत्रिका का भी प्रकाशन 'एसियाटिक सोसायटी रिसर्च जर्नल' नाम से प्रारम्भ हुआ। पाण्डुलिपियों के तुलनात्मक-समीक्षात्मक पाठ शोधन के साथ उनके सम्पादन और प्रकाशन का भी कार्य प्रारम्भ हुआ जो आज भी निरन्तर चल रहा है। इस शोध संस्थान की स्थापना के द्विशताब्दी के अवसर पर १९८४ ई. में भारत सरकार ने इसे राष्ट्रिय महत्त्व की संस्था घोषित कर इसे वित्तीय अनुदान देना प्रारम्भ किया है। यहाँ नित्य ही देश-विदेश से सैकड़ों शोधार्थी आकर इसका लाभ उठाते हैं।

२. बड़ौदा (गुजरात) में एम.एस. विश्वविद्यालय के अन्तर्गत 'ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट' (प्राच्यविद्या शोध संस्थान) बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में स्थापित हुआ जो संस्कृत शोध के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान कर रहा है। यहाँ से एक रिसर्च जर्नल भी प्रकाशित होता है। इस शोध संस्थान के अन्तर्गत न केवल पाण्डुलिपियों अपितु परम्परागत शास्त्रों की प्रकाशित पुस्तकों पर भी शोधकार्य हो रहा है। महत्त्वपूर्ण पाण्डुलिपियों का प्रकाशन भी हो रहा है। यहाँ पाण्डुलिपियों के संरक्षण तथा सम्पादन विषयक कार्यशालायें भी आयोजित होती हैं।

३. एल.डी. इंस्टीट्यूट आफ इण्डोलॉजी, अहमदाबाद।

४. सेठ बी.जे. इन्स्टीट्यूट आफ लर्निंग एण्ड रिसर्च, अहमदाबाद।

५. द्वारिकाधीश संस्कृत अकादमी एवं प्राच्यविद्या शोध संस्थान, द्वारका जिला-जामनगर, गुजरात। यहाँ शोधच्छात्र पीएच.डी. उपाधि के लिए भी शोधकार्य करते हैं। वर्तमान में इसके निदेशक हैं- प्रो. जयप्रकाश नारायण द्विवेदी।

६. विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन (मध्य प्रदेश) के अन्तर्गत 'सिन्धिया

प्राच्यविद्या शोध संस्थान' स्थापित है। इस शोध संस्थान की स्थापना ग्वालियर राजघराने के द्वारा २० अक्टूबर, १९३१ ई. को की गयी थी। संरक्षण एवं संवर्धन के लिए उस राजघराने के उत्तराधिकारियों ने इस शोध संस्थान को १९६० ई. में विक्रम विश्वविद्यालय को हस्तान्तरित कर दिया। इस शोध संस्थान के साथ एक पुरातत्त्व संग्रहालय तथा एक समृद्धग्रन्थालय भी सम्बद्ध है जिसमें पाण्डुलिपियाँ और मुद्रित पुस्तकें हैं। इसके निदेशक डॉ. एस.एम. कत्रे के कार्यकाल (१९७० के दशक) में यह पर्याप्त विकसित और व्यवस्थित हुआ। प्रो. वि. वेंकटाचलम् के कार्यकाल में इस शोध संस्थान के द्वारा न केवल अपने यहाँ की कैटलागिंग को आगे बढ़ाया अपितु प्राच्य निकेतन, भोपाल में संरक्षित पाण्डुलिपियों की भी कैटालागिंग करायी। यह शोध संस्थान प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति और पुरातत्त्व के विविध पक्षों पर भी शोधकार्य के लिए जाना जाता है। सम्प्रति, विक्रम विश्वविद्यालय की संस्कृत अध्ययनशाला में पञ्जीकृत शोधच्छात्र भी इस संस्थान में पीएच.डी. उपाधि के लिए शोधकार्य करते हैं। इस शोध-संस्थान के वर्तमान निदेशक प्रो. बालकृष्ण शर्मा हैं।

७. शासकीय प्राच्यविद्या शोध-संस्थान (ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट आफ गवर्नमेण्ट आफ राजस्थान), जोधपुर।

अपनी स्थापना के विगत प्रायः ७० वर्षों में इस प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान (शोध-संस्थान) ने पाण्डुलिपियों का एक अभूतपूर्व संग्रह स्थापित किया। संग्रह में एक लाख पचीस हजार से भी अधिक संस्कृत, प्राकृत और राजस्थानी भाषा के गन्थ हैं। इनका विवरणात्मक सूची पत्र क्रमशः प्रकाशित हो रहा है और उपलब्ध हो रही पाण्डुलिपियों का संग्रह भी हो रहा है। पाण्डुलिपियों के सम्पादन और प्रकाशन का कार्य भी चल रहा। राजस्थान के संस्कृत महाकवियों द्वारा विरचित अनेक महाकाव्य यहाँ से प्रकाशित हुए हैं। यहाँ की पाण्डुलिपियों तथा प्रकाशित ग्रन्थों को आधार बनाकर अन्यत्र विश्वविद्यालयों में शोधकार्य हो रहे हैं। इस शोध संस्थान की समग्र व्यवस्था राजस्थान सरकार द्वारा की जाती है। प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर की ७ शाखायें राजस्थान के विभिन्न नगरों में है।

८. राजस्थान के ही जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के अन्तर्गत म.म. पं. मधुसूदन ओझा शोध प्रकोष्ठ स्थापित है। यह शोध प्रकोष्ठ पं. ओझा जी द्वारा विरचित प्रायः ढाई सौ ग्रन्थों का क्रमशः प्रकाशन कर रहा है और ओझा जी द्वारा किये गये कार्यों पर अनुसन्धान भी करा रहा है। सम्प्रति इसके निदेशक प्रो. सत्यप्रकाश दुबे हैं।

म.म. पं. मधुसूदन ओझा और उनके शिष्य पं. मोती लाल शास्त्री की कृतियों पर अनुसन्धान कार्य को बढ़ावा देने के लिए राजस्थान के पूर्व सांसद स्व. आर.पी. मिश्र द्वारा दिल्ली की वसन्त विहार कालोनी में 'शङ्कर शिक्षायतन' नामक शोध संस्था भी कार्यरत है।

९. इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ एडवांस स्टडीज, शिमला

हिमाचल प्रदेश सरकार द्वारा पोषित एक शोध संस्था- 'इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ एडवांस स्टडीज' नाम से शिमला में राष्ट्रपति के ग्रीष्म निवास के परिसर में ही स्थापित है। यहाँ भारत की प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण भाषाओं से सम्बद्ध विषयों पर शोधकार्य होता है। संस्कृतभाषा के लिए भी पृथक् शोध-प्रभाग है जिसमें पूर्णकालिक और नियत कालिक शोध-अधिकारी नियुक्त होते हैं। यह शोध संस्था प्रकाशन-योजनाएँ भी संचालित करती है।

१०. हरियाणा में कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के अन्तर्गत १९६२ ई. में 'इंस्टीट्यूट ऑफ इंडिक स्टडीज' के नाम से एक शोध संस्थान की स्थापना हुई। १९८० में पुनः इसका नामरकण 'इंस्टीट्यूट ऑफ संस्कृत एण्ड इण्डोलाजिकल स्टडीज' कर दिया गया। इस शोध संस्थान के संस्थापक-निदेशक प्रो. डी.एन. शास्त्री थे। इसके पश्चात् इस पद पर क्रमशः प्रो. बुद्धप्रकाश और प्रो. गोपिका मोहन भट्टाचार्य रहे। इस शोध संस्थान ने अपने प्रारम्भिक काल में अनेक महत्त्वपूर्ण शोध किये और इनका प्रकाशन भी कराया। 'प्राचीज्योति' शोध पत्रिका का प्रकाशन यहीं से होता है जिसमें समय-समय पर भारतवर्ष के विश्वविद्यालयों में हो रहे संस्कृत शोधकार्यों का विवरण प्रकाशित होता रहता है। संस्थान ने अपनी शोधपरियोजना के रूप में महाभारत को लिया है। महाभारत के पर्वों के क्रमानुसार उसकी पदानुक्रमणी तैयार की जा रही है। इस पदानुक्रमणी के अन्तर्गत प्रत्येक पर्व में आये शब्दों का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है- शब्द, उसकी व्युत्पत्ति, उसका स्वरूप, अर्थ और वह शब्द उस पर्व विशेष में तथा महाभारत के अन्य पर्वों में कितनी बार कहाँ-कहाँ प्रयुक्त है? इस प्रकार महाभारत में प्रयुक्त उस शब्द की समग्र जानकारी एक ही स्थान पर उपलब्ध हो सकेगी। सम्प्रति इसके निदेशक प्रो. श्रीकृष्ण शर्मा हैं।

११. विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान - १९६० के दशक में आचार्य विश्वबन्धु शास्त्री ने पञ्जाब प्रान्त के होशियारपुर नामक स्थान में विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान की स्थापना की। इस शोध संस्थान ने वैदिक वाङ्मय के ग्रन्थों का प्रामाणिक संस्करण उनके भाष्यों सहित प्रकाशित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया

है। यह कार्य आज भी निरन्तर चल रहा है। यद्यपि यह शोध संस्थान मुख्य रूप से वैदिक वाङ्मय के सन्दर्भ में ही क्रियाशील है तथापि यहाँ के पाण्डुलिपि ग्रन्थालय में वेद से इतर व्याकरण, साहित्यादि विषयों की अनेकानेक पाण्डुलिपियाँ सङ्गृहीत हैं। भाष्य सहित छः खण्डों में अथर्ववेद का प्रामाणिक संस्करण यहाँ से प्रकाशित है। प्रो. ब्रज विहारी चौबे अनेक वर्षों तक इसके निदेशक रहे। वे स्वयं वैदिक शोध के क्षेत्र में कार्यरत अग्रणी विद्वानों में गिने जाते रहे हैं। उन्होंने कई दुर्लभ ब्राह्मण ग्रन्थों, सूत्र ग्रन्थों और स्मृतिग्रन्थों का सम्पादन करके उनका प्रकाशन कराया है। उनके कार्यकाल में इस शोध संस्थान ने शोध के क्षेत्र में पर्याप्त ख्याति अर्जित की। उनका जोर पाण्डुलिपियों के सम्पादन-प्रकाशन पर अधिक था। इस संस्थान से पीएच.डी. शोध की मान्यता पंजाब विश्वविद्यालय से प्राप्त है।

१२. महामहोपाध्याय कुप्पूस्वामी शास्त्री शोध संस्थान, मयिलापुर, चेन्नई।

१३. आड्यार लाइब्रेरी एण्ड रिसर्च सेंटर, चेन्नई।

१४. ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट ऑफ वेङ्कटेश्वर युनिवर्सिटी, तिरुपति।

प्रारम्भ में यह शोध संस्थान तिरुपति तिरुमला देवस्थानम् के अधीन सञ्चालित होता था। इस संस्थान में संरक्षित अधिकांश पाण्डुलिपियाँ ताड़पत्र पर हैं।

१५. वेङ्कटेश्वर इंस्टीट्यूट ऑफ हायर वैदिक स्टडीज़ - यह शोध संस्थान १९९९ ई. में तिरुमला देवस्थानम् ट्रस्ट द्वारा प्रारम्भ किया गया। इसमें केवल वेदविषयक शोधकार्य कराये जाते हैं।

१६. दि मिथिला इंस्टीट्यूट ऑफ रिसर्च इन संस्कृत लर्निंग, दरभङ्गा।

दरभङ्गा राजपरिवार के सहयोग से १९५१ ई. में इस शोध संस्थान की स्थापना हुई। उस समय इसके ग्रन्थागार में प्रायः ५५६२ पाण्डुलिपियाँ एकत्र थीं। अधिकांश पाण्डुलिपियाँ संस्कृत के हस्तलिखित ग्रन्थों की हैं। पाण्डुलिपियों का सङ्ग्रह आगे भी होता रहा। प्रारम्भ में इस शोध संस्थान ने महत्त्वपूर्ण कार्य किये और कई उत्कृष्ट प्रकाशन भी हुए। परन्तु श्री कामेश्वर सिंह संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना के पश्चात् इस शोध संस्थान की गतिविधियाँ शिथिल पड़ गयीं।

१७. राष्ट्रभाषा परिषद्, बिहार - बिहार सरकार के सहयोग से शोध और प्रकाशन के क्षेत्र में इस संस्था की स्थापना पटना में की गयी। यद्यपि अनुसंधान भी इसका एक उद्देश्य था किन्तु इसका प्रमुख कार्य प्रकाशन ही रहा और यहाँ से संस्कृत के उत्कृष्ट ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ। शुद्ध पाठ के साथ, हिन्दी अनुवाद सहित कम मूल्य पर ग्रन्थों का प्रकाशन करके पाठकों को सुलभ कराने में यह

संस्था उल्लेख्य है। बाबू शिवपूजन सहाय के कार्यकाल में इस संस्था ने पर्याप्त प्रगति की और संस्कृत के साथ ही हिन्दी के भी अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हुए। यद्यपि संस्था अभी भी अस्तित्व में है किन्तु अब वह प्रतिष्ठा नहीं है।

१८. भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट (BORI), पुणे (महाराष्ट्र)।

१९१७ ई. में पुणे में प्राच्यविदों का एक बृहद् विश्व संस्कृत सम्मेलन हुआ। उस सम्मेलन में यह विचार आया कि संस्कृत वाङ्मय की अमूल्य प्राचीन कृतियों का सम्पादन, पाठालोचन, प्रकाशन एवं उनमें गहन अनुसन्धान के लिए संस्कृत के विद्वानों की एक स्थायी संस्था होनी चाहिए। तब उस अधिवेशन में यह सङ्कल्प लिया गया कि पुणे में एक प्राच्य संशोधन मण्डल की स्थापना की जाय। उस समय के प्रसिद्ध संस्कृत विद्या विशारद श्री रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर के नाम पर भण्डारकर ओरियण्टल इंस्टीट्यूट की स्थापना हुई। १९१७ ई. में ही श्रीयुत सुक्थणकर की अध्यक्षता में इस संस्था ने कार्य प्रारम्भ किया। इस शोध संस्थान के द्वारा श्री सुक्थणकर के संरक्षण में महाभारत का प्रामाणिक समीक्षात्मक संस्करण तैयार करने तथा उसकी विस्तृत समालोचना लिखने की एक योजना तैयार की गयी और प्रो. आर.एन. दाण्डेकर को इसका मुख्य सम्पादक नियुक्त किया गया। प्रारम्भिक तैयारियों के पश्चात् यह कार्य सुचारुतया १९२३ ई. में प्रारम्भ हुआ। महाभारत का यह संस्करण तैयार करने में प्रायः ५० वर्ष लगे। महाभारत की उपलब्ध सभी पाण्डुलिपियों, वाचनाओं और टीकाओं की सहायता से न केवल इसके अध्यायों का क्रम व्यवस्थित किया गया, अपितु गहन विमर्शपूर्वक पाठभेदों का सङ्केत करते हुए प्रामाणिक पाठों का निर्धारण किया। इस प्रकार, सही शोध की दिशा में कार्य करते हुए अठारह खण्डों में महाभारत का प्रामाणिक समीक्षात्मक संस्करण प्रकाशित हुआ।

इस शोध संस्थान में निरन्तर इस प्रकार के शोधकार्य हो रहे हैं। भारत एवं वाहर के भी शोधार्थी इस संस्थान और पाण्डुलिपि ग्रन्थागार का उपयोग करते रहते हैं। वर्तमान में यहाँ प्राकृत भाषा-साहित्य में बृहत् कोश तैयार किया जा रहा है।

अखिल भारतीय प्राच्य विद्या सम्मेलन (All India Oriental Conference) का स्थायी कार्यालय BORI ही है। यहीं से इस सम्मेलन के प्रति तीसरे वर्ष होने वाले अधिवेशनों की प्रक्रिया सञ्चालित होती है। सम्मेलन के अध्यक्ष (General President) तथा कार्यकारिणी का चुनाव कराने, सचिव (General Secretary) नियुक्त करने, शोध वर्गों के अध्यक्षों का चयन, आमंत्रित शोधपत्रों की संक्षेपिका (Summaries) तथा चुने गए शोधपत्रों के साथ अधिवेशन की पूरी कार्यवाही (Proceedings) का प्रकाशन करने के साथ ही यह स्थायी कार्यालय सम्मेलन के नये सदस्य भी बनाता है। इस दृष्टि से BORI का महत्त्व और बढ़ गया है।

इस शोध संस्थान के पास पाण्डुलिपियों और मुद्रित ग्रन्थों का विशालकाय ग्रन्थागार है जिसके संरक्षण हेतु राज्य सरकार एवं केन्द्र सरकार वार्षिक अनुदान देती हैं। विगत वर्षों में केन्द्र सरकार ने इस शोध संस्थान को ०२ करोड़ रु. का एकमुश्त अनुदान विशेष तौर से दिया था।

भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट की व्यवस्था का सञ्चालन करने के लिए अधिकारी स्तर के दो निकाय घटित हैं- पहला है एकेडेमिक कौंसिल, जिसकी सदस्य संख्या २७ है। सदस्य उच्चस्तर के विद्वान् और प्राशासनिक अधिकारी होते हैं। दूसरा है सात सदस्यों का इक्जेक्यूटिव बोर्ड, जो एकेडेमिक कौंसिल द्वारा चुना जाता है। यह बोर्ड ही प्रभावशाली ढंग से शोध संस्थान की गतिविधियों का नियंत्रण करता है। इन सात सदस्यों में से बोर्ड का एक सचिव और एक चेयरमैन होता है। वर्तमान में डॉ. विजय भटकर इसके चेयरमैन हैं।

१९. गङ्गानाथ झा शोध संस्थान, इलाहाबाद - इसे पूर्व में गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ के नाम से भी जाना जाता था। राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान की स्थापना के पश्चात् यह शोध संस्थान उससे सम्बद्ध होकर उसके अधीन हो गया और अब मानित विश्वविद्यालय के रूप में मान्यता मिलने के पश्चात् इसे 'राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान इलाहाबाद परिसर' के नाम से जाना जाता है। यहाँ कार्यरत विद्वानों के निर्देशन में शोध प्रबन्ध प्रस्तुत करने वाले छात्रों को राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान की शोधोपाधि प्राप्त होती है। अन्य शोधार्थी भी इस संस्थान में उपलब्ध सुविधाओं का लाभ उठाते हैं। इस संस्थान का परिचय पाण्डुलिपि ग्रन्थागारों के प्रसङ्ग में दिया जा चुका है। यह संस्थान पाण्डुलिपियों का सम्पादन प्रकाशन तो करता ही है अपना एक रिसर्च जर्नल भी प्रकाशित करता है।

२०. अधोलिखित शोध संस्थान, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान से अनुदानित हैं-

(i) वैदिक संशोधन मण्डल, तिलक विद्यापीठ, गुलटेकड़ी, पुणे-४०००३७।

(ii) पूर्णप्रज्ञ संशोधन मन्दिरम्, काठीगुप्पा मेन रोड, बेंगलूर-५६००२८।

(iii) संस्कृत अकादमी (शोध संस्थान), उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद।

(iv) चिन्मय इण्टरनेशनल फाउण्डेशन (शोध संस्थान), वेलियानाड, एर्णाकुलम्, केरल।

इनके अतिरिक्त कई प्रदेशों (यथा उ.प्र., म.प्र., राजस्थान आदि) में शासन द्वारा स्थापित संस्कृत अकादमी/संस्थान भी शोध के क्षेत्र में सहायक हैं। केन्द्र सरकार के अधीन उज्जैन (म.प्र.) में स्थापित 'सान्दीपनि वेद विद्या प्रतिष्ठान' भी वैदिक शोध को बढ़ावा दे रहा है।

संस्कृत-कोश एवं कोशकार

(क) प्राचीन कोश

संस्कृत में कोश ग्रन्थों का निर्माण प्रायः वैदिक काल में ही प्रारम्भ हो चुका था। उस समय कोश और व्याकरण का विषय परस्पर सम्बद्ध था क्योंकि दोनों ही शब्दशास्त्र से सम्बद्ध हैं।

'निघण्टु' और 'निरुक्त' को प्राचीनतम वैदिक कोश माना जा सकता है। निरुक्त को एक वेदाङ्ग कहा गया है। 'निघण्टु' वैदिक शब्दों का सङ्कलन है। महर्षि यास्क कृत 'निरुक्त' इसी निघण्टु का भाष्य (टीका) है। 'निरुक्त' में वैदिक शब्दों का निर्वचन दिया गया है। यह व्युत्पत्तिशास्त्र न होकर निरुक्तिशास्त्र है, जो उन शब्दों के अर्थों के साथ शब्दों के स्वरूप की सङ्गति लगाता है। महर्षि यास्क ने अपने पूर्ववर्ती १७ निरुक्तकारों (गार्ग्य, शाकपूणि, औदुम्बरायण प्रभृति) का उल्लेख किया है। दुर्गाचार्य, स्कन्दस्वामी और महेश्वर, निरुक्त के प्राचीन टीकाकार हैं।

निघण्टु में पाँच अध्याय हैं। प्रथम तीन अध्यायों में पर्यायवाची शब्द हैं, चतुर्थ अध्याय में अस्पष्ट-कठिन वैदिक शब्द हैं और पञ्चम अध्याय में देवता वाचक शब्द हैं। निरुक्त में कुल बारह अध्याय हैं। प्रथम तीन अध्याय को नैघण्टुक काण्ड कहते हैं। इनमें निघण्टु के प्रारम्भिक तीन अध्यायों में आये शब्दों की व्याख्या है। निरुक्त के ४ से ६ अध्यायों को नैगम काण्ड कहा जाता है। इनमें निघण्टु के चतुर्थ अध्याय के शब्दों की व्याख्या तथा स्पष्टीकरण है। निरुक्त के ७ से १२ अध्याय को दैवतकाण्ड कहा जाता है। इनमें निघण्टु के पञ्चम अध्याय के देवतावाचक शब्दों का विवेचन है।

निरुक्त के पाँच प्रतिपाद्य विषय हैं-

'वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्।।'

निरुक्त, शब्दनिर्वचनशास्त्र (Etymology), भाषाविज्ञान (Philology) और अर्थ विज्ञान (Semantics) का सर्वप्राचीन प्रामाणिक ग्रन्थ है। वर्तमान में इसके हिन्दी-

अंग्रेजी अनुवाद सहित कई संस्करण प्रकाशित हैं।

प्राचीन कोशकारों में 'भागुरि' का नाम उल्लेखनीय है। अनेकत्र इसके उद्धरण प्राप्त होते हैं। इनके कोश का नाम था त्रिकाण्ड। भागुरि का उल्लेख पाणिनिपूर्व वैयाकरणों में मिलता है। इसी प्रकार 'आपिशालि' भी वैयाकरण एवं कोशकार के रूप में अनेकत्र उद्धृत हैं। अन्य प्राचीन कोशकारों में 'व्याडि' तथा 'शाकटायन' भी उल्लेख्य हैं। लौकिक संस्कृत के अनेक प्राचीन शब्दकोश आज उपलब्ध नहीं होते, नाममात्र से उनके अस्तित्व का ज्ञान होता है। कात्यायन की 'नाममाला', वाचस्पति का **'शब्दकोश'**, विक्रमादित्य का **'शब्दकोश'** तथा **'संसारावर्त'** उल्लेख्य हैं।

वर्तमान में उपलब्ध सर्वप्राचीन और प्रसिद्ध संस्कृत शब्दकोश है अमर सिंह कृत **'अमरकोश'** अपरनाम - **'नामलिङ्गानुशासन।'** इसे संस्कृत शब्दसंसार का 'पिता' कहा गया है- "अष्टाध्यायी जगन्माताऽमरकोशो जगत्पिता।" अमरकोश पर प्रायः पचास टीकाएँ लिखी गयी हैं जिनमें प्रसिद्ध हैं- प्रभा, माहेश्वरी, सुधा, रामाश्रमी और नामचन्द्रिका।

अमर सिंह ने इस कोश में तीन काण्डों की योजना की है। प्रथम काण्ड में दस वर्ग, द्वितीय काण्ड में दस वर्ग और तृतीय काण्ड में छः वर्ग- इस प्रकार कुल छब्बीस वर्गों के अन्तर्गत (यथा- स्वर्ग वर्ग आदि) शब्दों के पर्यायवाची शब्दों को रखा गया है। अर्थ रूप इन पर्यायों का परिगणन छन्दोबद्ध (श्लोकों में) किया गया है। ऐसा अनुमान है कि कोशकार के समय में ज्ञात और प्रचलित सभी शब्द अमरकोश में सन्निहित हैं-

'समाहृत्यान्यतन्त्राणि संक्षिप्तैः प्रतिसंस्कृतैः।
सम्पूर्णमुच्यते वर्गैर्नामलिङ्गानुशासनम्।।' (अमर. १/२)

अमरकोश के प्रथम वर्ग में २७९, द्वितीय वर्ग में ७३४ और तृतीय वर्ग में ४८०- इस प्रकार कुल मिलाकर १४९३ श्लोक हैं। इसकी विशेषता है कि यह कोश नाम (शब्द) का आख्यान करने के साथ ही उसके लिङ्ग का भी उल्लेख करता है। यथा- 'मरीचिः स्त्रीपुंसयोर्दीधितिः स्त्रियाम्' अर्थात् (किरण का पर्याय) 'मरीचि' शब्द स्त्रीलिङ्ग और पुंल्लिङ्ग दोनों है, 'दीधिति' शब्द स्त्रीलिङ्ग है।

प्राचीन टीकाकारों और विद्वानों ने सर्वाधिक उपयोग अमरकोश का ही किया है। परम्परागत पठन पद्धति में छात्रों को बचपन में ही अमरकोश कण्ठस्थ करा दिया जाता था। अब भी यत्किञ्चित् कहीं-कहीं गुरुजन ऐसा कराते हैं। अमरकोश

सर्वाधिक उपयोगी होने के कारण सर्वत्र लोकप्रिय है।

अमर सिंह के समकालीन 'शाश्वत' नामक विद्वान् ने '**अनेकार्थसमुच्चय**' नामक कोशग्रन्थ का निर्माण किया है जो उनके नाम से 'शाश्वत कोश' के रूप में भी जाना जाता है।

पुरुषोत्तम देव (सप्तम शताब्दी ई.) ने **त्रिकाण्डकोश (विश्वकोश)** के नाम से अमरकोश का परिशिष्ट लिखा जिसमें प्राकृत और पालि शब्दों का भी समावेश है। इन्होंने **हारावली** नामक एक स्वतंत्र कोशग्रन्थ का निर्माण किया, जिसमें नवीन शब्दों का भी संग्रह किया, जो पूर्ववर्ती कोश ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं हैं। वररुचि विरचित एक **कोशग्रन्थ** (अप्रकाशित) पाण्डुलिपि के रूप में है जो Govt. Oriental Mss. Library, Madras में सुरक्षित है।[१] हलायुध (दशम शताब्दी ई.) ने अभिधानरत्नमाला नामक **कोशग्रन्थ** का निर्माण किया जिसे उनके नाम पर '**हलायुध कोश**' कहते हैं। इसमें ९०० श्लोक हैं। यादव प्रकाश (एकादश शताब्दी ई.) विशिष्टाद्वैतवादी दाक्षिणात्य आचार्य थे। इनके द्वारा निर्मित **वैजयन्ती कोश प्रसिद्ध** है। यह एक सुव्यवस्थित और वैज्ञानिक रीति से लिखा गया शब्दकोश है। इसमें शब्दों का सञ्चयन और प्रस्तुतीकरण अकरादि क्रम से किया गया है। **मेदिनी कोश** भी पर्याप्त प्रसिद्ध है। इसके निर्माता मेदिनीकर हैं। इस कोश का मूल नाम है- **नानार्थशब्दकोश**। इस कोश की विशेषता है कि इसमें शब्दों के अन्तिम व्यञ्जन के आधार पर 'वर्ग' बनाये गये हैं और उनके अन्तर्गत शब्दों का सङ्ग्रह किया गया है। यथा- कान्त वर्ग, खान्त वर्ग, रान्त वर्ग, मान्त वर्ग, षान्त वर्ग इत्यादि।

केशव स्वामी प्रणीत 'नानार्थार्णवसंक्षेप' नामक कोश एक महत्त्वपूर्ण कोश है। यह भी श्लोकबद्ध है और इसका विभाजन काण्डों में हुआ है। 'एकाक्षरकाण्ड' से प्रारम्भ करके 'षडक्षरकाण्ड' पर्यन्त कुल छः काण्ड हैं। शब्दों में अक्षरों की संख्या के आधार पर बढ़ते हुए क्रम में शब्दों का सञ्चय किया गया है। 'शब्दकल्पद्रुम' नामक इनका एक अन्य कोश भी है।

हेमचन्द्र का **अभिधान चिन्तामणि कोश, अनेकार्थ संग्रह और देशी नाममाला**, मङ्ख कवि का **अनेकार्थ कोश**, मल्लभट्ट की **आख्यात चन्द्रिका**, दण्डधिनाथ की **नानार्थरत्नमाला**, वामनभट्ट बाण का **शब्दरत्नाकर** एवं **शब्दार्थचन्द्रिका**, पद्मसुन्दर का **सुन्दरप्रकाशशब्दार्णव**, केशव दैवज्ञ का **कल्पद्रुम**,

---

१. Govt. Oriental Mss. Library, Madras - Catalogue Vol. 27, Part I, MS. NO. 15672.

अप्पय दीक्षित की **नामसंग्रहमाला**, महिप का **अनेकार्थतिलक**, महादेव वेदान्ती का **अनादिकोश**, राघव कवि का **कोशावतंस**, भोज की नाममाला, सहाजी का शब्दरत्नसमुच्चय, शिवदत्त का **विश्वकोश** उल्लेखनीय हैं।

कोशों के निर्माण में जैन आचार्यों का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है। महाकवि धनञ्जय (नवम शताब्दी ई.) का **धनञ्जयनिघण्टु** या नाममाला नामक दो सौ पद्यों का एक छोटा सा कोश है। इसी के साथ छियालीस पद्यों में निबद्ध **अनेकार्थनाममाला** नामक एक लघु कोश भी है। नवम शताब्दी ई. के ही हरिषेण द्वारा निर्मित **बृहत्कथाकोश** भी महत्त्वपूर्ण है। इसमें साढ़े बारह हजार श्लोक हैं। प्रभाचन्द्र और नेमिदत्त ने भी कोशों का निर्माण किया और दोनों ही कोशों का नाम **आराधना कथाकोश** है। सहजकीर्ति द्वारा विरचित **सिद्धशब्दार्णव कोश** भी उपलब्ध है। इसके दो काण्डों में कुल ७९८ श्लोक हैं और काण्डों का विभाजन 'अधिकार' नाम से किया गया है। यथा- जैनाधिकार, सुराधिकार, नारकाधिकार, शस्त्राधिकार आदि।

(ख) अर्वाचीन (आधुनिक) कोश

चमूपति का **वेदार्थशब्दकोश**, विश्वबन्धु शास्त्री द्वारा निर्मित **वैदिकशब्दार्थपारिजात, वैदिक पदानुक्रम कोश** (७ भाग) एवं **ए कम्प्लीट एटमालाजिकल डिक्शनरी आफ दि वैदिक लैंग्वेज**, मधुसदून शर्मा का **वैदिक कोश**, भगवद्दत्त एवं हंसराज का वैदिक कोश डॉ. सूर्यकान्त का **वैदिक कोश**, केवलानन्द सरस्वती का **ऐतरेय ब्राह्मण-आरण्यक कोश**, गयानन्द शम्भू साधले का **उपनिषद्वाक्य महाकोश**, लक्ष्मण शास्त्री का **धर्मकोश** प्रसिद्ध हैं।

आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों ने भी कोश निर्माण के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। कुछ प्रमुख कोश और कोशकार इस प्रकार हैं-

राठ और बोटलिंक का **संस्कृत-जर्मन महाकोश** (७ भाग-कुल दस हजार पृष्ठ), ग्रासमन का **ऋग्वैदिक कोश**, हिलब्राण्ट का **वैदिक कोश** (३ भाग), मैक्डानेल एवं कीथ का वैदिक इण्डेक्स, कर्नल जैकब का **उपनिषद् वाक्यकोश**, लुई रेनू का **वैदिक वाङ्मय ग्रन्थ सूची** (फ्रेंच भाषा में Bibliographie Vediqne = नौ भाग), मॉनियर विलियम का **Sanskrit English Dictionary** (संस्कृत-अंग्रेजी-शब्दकोश) उल्लेखनीय हैं। वामन शिवराम आप्टे ने मॉनियर विलियम की पद्धति पर **संस्कृत-हिन्दी-शब्दकोश** की रचना की। इन दोनों शब्दकोशों में संस्कृत वाङ्मय से प्रचुरतया उद्धरण भी दिये गये हैं।

आधुनिक संस्कृत-कोश ग्रन्थों में तारानाथ तर्क वाचस्पति का '**वाचस्पत्यम्**',

राधाकान्त देव का 'शब्दकल्पद्रुमः', विजय राजेन्द्र सूरि का **अभिधान राजेन्द्र कोशः** (सात खण्डों में) और सुखानन्दनाथ का **शब्दार्थचिन्तामणिः** (चार खण्डों में) अति बृहत्काय कोश ग्रन्थ हैं। अन्य अनेक कोशों में, ज्ञानचन्द्र स्वामी कृत **अभिधानप्रदीपिका**, ग्रेब्ज हागृन की **डिक्शनरी ऑफ बेंगाली एण्ड संस्कृत**, बेनफे की **संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी**, आनन्दराम बरुआ की **प्रैक्टिकल संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी**, जीवराम उपाध्याय का **सरस्वती कोश**, द्वारका प्रसाद चतुर्वेदी का **संस्कृत हिन्दी कोश**, डॉ. रामसरूप 'रसिकेश' का आदर्श **हिन्दी-संस्कृत-कोश**, विश्वम्भर नाथ शर्मा का **संस्कृत-हिन्दी कोश**, गिरिजाशङ्कर मायाशङ्कर मेहता का **संस्कृत-गुजराती शब्दादर्श**, विद्याधर वामन भिडे की **संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी**, ऋषीश्वर भट्ट का **आधुनिक संस्कृत हिन्दी कोश**, द्वारिकाप्रसाद शर्मा एवं तारिणीश झा का **संस्कृतशब्दार्थकौस्तुभः**, जीवानन्द विद्यासागर का **शब्दसागर** प्रमुख हैं।

शब्दकोशों के अतिरिक्त अन्य प्रकार के विषयगत कोश भी तैयार किये गये हैं। उदाहरण के लिए, ऐसे कोशों में- डॉ. राजवंश सहाय हीरा का **संस्कृत साहित्य कोश**, डॉ. हरदेव बाहरी का **प्राचीन भारतीय संस्कृत कोश**, डॉ. ब्रह्ममित्र अवस्थी का **अलङ्कार कोश**, आचार्य बच्चू लाल अवस्थी का **दर्शन कोश**, द्वारिका प्रसाद चतुर्वेदी का **चरित कोश**, डॉ. रामकुमार राय का **महाभारत कोश**, डॉ. नगेन्द्र का **भारतीय साहित्य कोश**, डॉ. राजवंश सहाय हीरा का **भारतीय साहित्य शास्त्र कोश**, केवलानन्द सरस्वती का **मीमांसा कोश**, डॉ. रामकुमार राय का **राजतरङ्गिणी कोश**, वी.सी. दातार का सुश्रुतकोश, एस.वी. वर्णेकर का **संस्कृत वाङ्मय कोश**, डॉ. राजबली पाण्डेय का **हिन्दू धर्म कोश**, डॉ. रामसरूप का **सर्वधर्म कोश**, प्रो. आद्या प्रसाद मिश्र का **कालिदास कोश**, प्रो. रेवा प्रसाद द्विवेदी का **रघुवंश कोश**, प्रो. पी.जी. लाले का **लौकिक न्याय कोशः**, प्रो. सत्यपाल नारंग का **बिब्लियोग्राफी आफ कालिदास** आदि प्रसिद्ध हैं।

स्वामी चिन्दानन्द सरस्वती (परमार्थ निकेतन, ऋषीकेश, उत्तराखण्ड) के संरक्षण में प्रकाशित **इन्साइक्लोपीडिया आफ हिन्दू धर्म** (अठारह खण्ड) तथा प्रो. डी.पी. चट्टोपाध्याय के सम्पादन में प्रवर्तित परियोजना **हिस्ट्री आफ साइंस, फिलासॉफी एण्ड कल्चर इन इण्डियन सिविलाइजेशन** भी अति महत्त्वपूर्ण हैं।

उपर्युक्त कुछ कोशों के अतिरिक्त संस्कृत वाङ्मय, संस्कृति, कला, सङ्गीत, आयुर्वेद तथा प्राकृत-पालि, बौद्ध एवं जैन दर्शन के क्षेत्र में भी अनेक कोश विरचित हैं।

संस्कृत शोध-पत्रिकाएँ

डॉ. रामगोपाल मिश्र ने अपने 'संस्कृत पत्रकारिता का इतिहास' नामक शोधग्रन्थ (प्रकाशित) में प्रथम प्रकाशित संस्कृत पत्रिका से लेकर १९९३ तक प्रकाशित होने वाली संस्कृत पत्रिकाओं की सूची दी है। किन्तु उनमें से अधिकांश को हम शोध पत्रिका की श्रेणी में परिगणित नहीं कर सकते। डॉ. लाला शङ्कर गयावाल (एसो. प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, रामेश्वरी देवी शासकीय कन्या महाविद्यालय, भरतपुर, राजस्थान) ने प्राचीन और नवीन प्रायः एक सौ से अधिक संस्कृत पत्रिकाओं का सङ्ग्रह कर रखा है। इनमें विभिन्न श्रेणी की पत्र-पत्रिकाएँ हैं। इन्होंने संस्कृत पत्रिकाओं पर एक शोध परियोजना भी पूरी की है।

यहाँ हम शोध की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कतिपय पत्रिकाओं का परिचय देने का प्रयत्न करेंगे। विगत कुछ वर्षों से, जब से पीएच.डी. शोधच्छात्रों के लिए शोधप्रबन्ध प्रस्तुत करने से पूर्व, विषयसम्बद्ध दो शोधपत्र प्रकाशित कराने की अनिवार्यता का नियम बना दिया गया, शोध पत्रिकाओं की बाढ़ सी आ गयी है। संस्थाएँ और व्यक्तियों ने शोध पत्रिका का पञ्जीकरण कराकर 'ISSN' लेकर या 'रेफर्ड जर्नल' घोषित कराकर व्यवसाय के रूप में मात्र धनार्जन के उद्देश्य से प्रकाशित करना प्रारम्भ किया है और अच्छी-खासी रकम लेकर स्तर का बिना विचार किये शोधच्छात्रों के शोधपत्र धड़ल्ले से प्रकाशित कर रहे हैं। ऐसी पत्रिकाओं का विवरण देने में हमारी रुचि नहीं है। यहाँ हम प्रतिष्ठित पत्रिकाओं का ही उल्लेख करेंगे, जो संस्कृत शोध के उन्नयन की दिशा में संस्कृत सेवा की भावना से प्रकाशित हो रही हैं।

१. **सारस्वती सुषमा** - त्रैमासिक - अनुसन्धान एवं प्रकाशन विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी-२२१००२ (उ.प्र.)।

२. **भास्वती** - षाण्मासिक - संस्कृत विभाग, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी-२२१००२ (उ.प्र.)।

३. **पारिजातम्** - मासिक - १०५/९४, प्रेमनगर, कानपुर-२०८००१ (उ.प्र.)।

४. अजस्रा – त्रैमासिक – अखिल भारतीय संस्कृत परिषद्, देववाणी भवन, सेक्टर–बी, अलीगंज, लखनऊ–२२६००७.

५. परिशीलनम् – त्रैमासिक – उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थानम्, संस्कृत भवनम्, नया हैदराबाद, लखनऊ–२२६००७ (उ.प्र.)।

६. सङ्गमनी – त्रैमासिक – संस्कृत साहित्य परिषद्, दारागंज, इलाहाबाद (उ.प्र.)।

७. विश्वभाषा – त्रैमासिक – विश्व संस्कृत प्रतिष्ठानम्, रामनगर दुर्ग, वाराणसी।

८. दृक् – षाण्मासिक (हिन्दी माध्यम) – दृग्भारती, एम. १/३२, आवास विकास कालोनी, झूँसी, इलाहाबाद–२११०१९ (उ.प्र.)।

९. वाकोवाक्यम् – षाण्मासिक – ३, प्रिया अपार्टमेण्ट, कमच्छा, वाराणसी–२२१०१० (उ.प्र.)।

१०. नवगवेषणा – षाण्मासिक – ३, प्रिया अपार्टमेण्ट, कमच्छा, वाराणसी–२२१०१० (उ.प्र.)।

११. पुराणम् – षाण्मासिक – अखिल भारतीय काशिराज ट्रस्ट, रामनगर दुर्ग, वाराणसी।

१२. संस्कृत विद्या – वार्षिक – संस्कृत विद्या धर्मविज्ञान सङ्कायः, काशी हिन्दू विश्वविद्यालयः, वाराणसी–२२१००५।

१३. सुसंस्कृतम् – अर्द्धवार्षिक – सुरुचिकला समितिः, बी. २३/४५–घ–ए.एस., नई बाजार, खोजवाँ, वाराणसी–२२१०१०।

१४. सौदामिनी – वार्षिक – सौदामिनी संस्कृत महाविद्यालयः, १४९, विवेकानन्द मार्ग, इलाहाबाद।

१५. वाङ्मयम् – षाण्मासिक – त्रिवेणिका संस्कृत परिषद्, ४०३, नया मम्फोर्डगंज, इलाहाबाद–२११००२।

१६. मङ्गलम् – षाण्मासिक – मङ्गलम् सेवा समिति, ४६३/३५९–जी–२, शिवम् अपार्टमेण्ट, मम्फोर्डगंज, इलाहाबाद–२११००२।

१७. ऋतावरी – षाण्मासिक – प्राच्य भारती संस्थान, ५७–डी, काले पुर, गौतम नगर, गोरखपुर–२७३००९।

१८. प्राच्यविद्यानुसन्धानम् – अर्द्धवार्षिक – ३०/२, सेक्टर–४, जागृति विहार, मेरठ (उ.प्र.)।

१९. भारती मन्दारः – षाण्मासिक – प्रबुद्ध प्रकाशनम्, ११०/५१, रामकृष्ण नगर, कानुपर–२०८०१२।

२०. मध्यभारती – षाण्मासिक – कुलसचिव, डॉ. हरी सिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर–४७०००३ (म.प्र.)।

२१. नाट्यम् – त्रैमासिक – संस्कृत–विभाग, डॉ. हरी सिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर–४७०००३ (म.प्र.)।

२२. स्मारिका – त्रैमासिक – संस्कृत–विभाग, डॉ. हरी सिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर–४७०००३ (म.प्र.)।

२३. दि विक्रम – त्रैमासिक – कुलसचिव, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन–४५६०१० (म.प्र.)।

२४. कालिदास – कालिदास संस्कृत अकादमी, उज्जैन–४५६०१० (म.प्र.)।

२५. दूर्वा – कालिदास संस्कृत अकादमी, उज्जैन–४५६०१० (म.प्र.)।

२६. सारस्वती – वार्षिक – संस्कृत–विभाग, शासकीय महाराज महाविद्यालय, छतरपुर–४७१००१ (म.प्र.)।

२७. विक्रमार्क – अर्द्धवार्षिक – महाराज विक्रमादित्य शोधपीठ, १–उदयन मार्ग, उज्जैन–४५६०१० (म.प्र.)।

२८. भारती – मासिक – बी. १५, भारती भवनम्, न्यू कालोनी, जयपुर–३०२००१ (राज.)।

२९. संस्कृत-सञ्जीवनी – मासिक – संस्कृत भाषा परिषद्, ४५/१२९, किरणपथ, मानसरोवर, जयपुर–३०२०२०।

३०. स्वरमङ्गला – त्रैमासिक – राजस्थान संस्कृत अकादमी, वीरेश्वर भवनम्, गणगौरी बाजार, जयपुर–३०२००२, राजस्थान।

३१. गीर्वाणी – मासिक – संस्कृत भवनम्, प्रचारिणी सभा, चित्तूर–५१०७०० (आ.प्र.)।

३२. महस्विनी – अर्द्धवार्षिक – राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठम्, तिरुपति–५१७५०७ (आ.प्र.)।

३३. आरण्यकम् – अर्द्धवार्षिक – संस्कृत प्रचार परिषद्, मारुति मन्दिरम्, प्रकाशपुरी, आरा–८०२३०१ (बिहार)।

३४. **संस्कृतमनीषा (विश्वमनीषा)** – त्रैमासिक – प्रकाशन विभाग, श्री कामेश्वर सिंह दरभङ्गा संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभङ्गा, बिहार।

३५. **संस्कृतसम्मेलन** – अर्द्धवार्षिक – श्री रमणीरंजनमुरारका संस्कृत महाविद्यालय, पटना–८ (बिहार)।

३६. **आर्षज्योति** – मासिक – श्रीमद्दयानन्द वेदविद्यालय, ११९–गौतम नगर, दिल्ली–११००४९।

३७. **अर्वाचीनसंस्कृतम्** – त्रैमासिक – देववाणी परिषद्, ६–ए–वाणी विहार, नई दिल्ली–११००५९।

३८. **शोधप्रभा** – त्रैमासिक – प्रकाशन विभाग, श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, कुतुब सांस्थानिक क्षेत्र, नई दिल्ली–११००१६।

३९. **संस्कृतप्रतिभा** – त्रैमासिक – साहित्य अकादमी, रवीन्द्र भवन फिरोज शाह मार्ग, नई दिल्ली–११०००१।

४०. **संस्कृतमञ्जरी** – त्रैमासिक – दिल्ली संस्कृत अकादमी, प्लाट सं. ५, झण्डेवालान, करोल बाग, नई दिल्ली–११०००१।

४१. **संस्कृतविमर्शः** – वार्षिक – राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, ५६–५७ जनकपुरी सांस्थानिक क्षेत्र, नई दिल्ली–११००५८।

४२. **धीमहि** – वार्षिक – चिन्मय इण्टरनेशनल फाउण्डेशन शोध संस्थान, आदिशङ्करनिलयम्, आदिशङ्कर मार्ग, पो.–वेलियानाड, जि.–एर्णाकुलम् – ६८२३१३ (केरल)।

४३. **गीर्वाणसुधा** – त्रैमासिक – देववाणी मन्दिरम्, भीमाबाई राणे शाला, भूतल, राजाराम मोहन राय मार्ग, गिरगाँव, मुम्बई–४००००४।

४४. **संविद्** – त्रैमासिक – भारतीय विद्याभवन, कुलपति के.एम. मुंशी मार्ग, चौपाटी, मुम्बई–४००००७।

४५. **स्रग्धरा** – मासिक – (उड़ीसा संस्कृत अकादमी, भुवनेश्वर) समुद्र नगर, बालीघाट, पुरी–७५२००२ (उड़ीसा)।

४६. **दिग्दर्शिनी** – त्रैमासिक – उत्कल संस्कृत गवेषणा समाज, पुरी (उड़ीसा)।

४७. **वसुन्धरा** – त्रैमासिक – उड़ीसा संस्कृत अकादमी, वासिष्ठ्ययोगाश्रम, टॉकपानी रोड, भुवनेश्वर–७५१०१८ (उड़ीसा)।

४८. **संस्कृतमन्दाकिनी** – अर्द्धवार्षिक – लोकभाषा प्रचार समिति, सरस्वती विहार, बड़ापाड़ा, भद्रक, उड़ीसा–७५६११३।

४९. **लोकप्रज्ञा** – अर्द्धवार्षिक – लोकभाषा प्रचार समिति, सरस्वती विहार, बड़ापाड़ा, भद्रक, उड़ीसा–७५६११३।

५०. **श्रीजगन्नाथज्योतिः** – अर्द्धवार्षिक – श्री जगन्नाथ संस्कृत विश्वविद्यालय, श्रीविहार, पुरी–७५२००३ (उड़ीसा)।

५१. **प्राचीसुधा** – अर्द्धवार्षिक – धर्मशास्त्रविभाग, श्री जगन्नाथ वेदकर्मकाण्ड महाविद्यालय, पुरी, उड़ीसा।

५२. **जाह्नवी** – त्रैमासिक – राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, श्री सदाशिव परिसर, पुरी–७५२००१ (उड़ीसा)।

५३. **विश्वसंस्कृत** – त्रैमासिक – विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, साधु आश्रम, होशियारपुर–१५१०२१ पंजाब।

५४. **प्राचीज्योतिः** – वार्षिक – इण्डोलाजिकल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र (हरियाणा)।

५५. **भारतोदय** : – मासिक – गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर, हरिद्वार–२४९४०५ (उत्तराखण्ड)।

५६. **तारा** – वार्षिक – रानी पद्मावती तारा योगतंत्र आदर्श संस्कृत महाविद्यालय, इन्द्रपुर, शिवपुर, वाराणसी–२२१००३ (उ.प्र.)।

५७. **तत्त्वबोधः** – त्रैमासिक – संस्कृत विभाग, गुजरात विश्वविद्यालय, अहमदाबाद।

५८. **सारूप्यम्** – वार्षिक – बी.जे. रिसर्च इन्स्टीट्यूट, अहमदाबाद, गुजरात।

५९. **स्वाध्यायः** – वार्षिक – एम.एस. यूनिवर्सिटी, वादोदरा (बड़ौदा), गुजरात।

६०. **शारदाप्रदीपः** – वार्षिक – द्वारकाधीश संस्कृत अकादमी, द्वारका, जि.–जामनगर, गुजरात।

६१. **सांमनस्यम्** – वार्षिक – बृहत् संस्कृत परिषद्, अहमदाबाद।

६२. **हैमप्रभा** – वार्षिक – नार्थ गुजरात यूनिवर्सिटी, पाटन, गुजरात।

६३. **सम्बोधिः** – वार्षिक – एल.डी. इन्स्टीट्यूट आफ इण्डोलॉजी, अहमदाबाद।

६४. **गुरुकुल शोध पत्रिका** – त्रैमासिक – गुरुकल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार,

उत्तराखण्ड।

६५. आन्वीक्षिकी–त्रैमासिक-उत्तराखण्ड संस्कृत अकादमी, हरिद्वार, उत्तराखण्ड।

६६. शोधप्रज्ञा–अर्द्धवार्षिक-उत्तराखण्ड संस्कृत विश्वविद्यालय, हरिद्वार, उत्तराखण्ड।

६७. विपाशा–वार्षिक-भाषा एवं संस्कृति अकादमी, शिमला, हिमाचल प्रदेश।

उपर्युक्त शोध पत्रिकाओं के अतिरिक्त, विभिन्न शोध संस्थानों से उनके निदेशक रिसर्च जर्नल्स और रिसर्च बुलेटिन्स प्रकाशित करते हैं। इनमें एसियाटिक सोसाइटी (आफ बेंगाल) कलकत्ता; भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पुणे; ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा; डकन कालेज, पुणे; काणे इंस्टीट्यूट ऑफ इण्डोलॉजी, मुम्बई; गङ्गानाथ रिसर्च इन्स्टीट्यूट (राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, इलाहाबाद परिसर), इलाहाबाद; आड्यार लाइब्रेरी एण्ड रिसर्च इंस्टीट्यूट, चेन्नई आदि प्रमुख हैं। सेण्टर आफ एडवांस स्टडीज इन संस्कृत, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे से 'जर्नल आफ इण्डियन इन्टेलेक्चुअल ट्रेडीशन' प्रकाशित होता है।

*

सहायक ग्रन्थ

१. अनुसन्धान : डॉ. सत्येन्द्र, नन्दकिशोर एण्ड ब्रदर्स, बाँसफाटक, वाराणसी, १९६९ ई.।

२. अनुसंधान और आलोचना : डॉ. नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, १९६१ ई.।

३. अनुसन्धान का स्वरूप : डॉ. सावित्री सिन्हा, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, १९५४ ई.।

४. अनुसन्धान का विवेचन : डॉ. उदय भानु सिंह, हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली, १९६२ ई.।

५. आधुनिक साहित्य और अनुसन्धान : राजमल वोरा एवं राजूरकर, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।

६. शोध-तंत्र और सिद्धान्त : डॉ. शैलकुमारी, सरस्वती हाउस, दिल्ली १९७८ ई.।

७. शोधप्रविधि : डॉ. विनय मोहन शर्मा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, १९८० ई.।

८. शोधप्रविधि एवं पाण्डुलिपि विज्ञान : प्रो. अभिराज राजेन्द्र मिश्र एवं डॉ. (श्रीमती राजेश कुमारी मिश्रा, अक्षय वट प्रकाशन, २६, बलरामपुर हाउस, इलाहाबाद-२११००२।

९. साहित्यिक अनुसन्धान के आयाम : रवीन्द्र कुमार जैन, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।

१०. साहित्यानुसन्धानावबोधप्रविधि : प्रो. रहस विहारी द्विवेदी, शिव वाङ्मुनिमेधा प्रकाशनम्, ६१५- ग्रीनसिटी, माढ़ोताल, जबलपुर-४८२००२।

११. Indological studies and Research in India : The Ramakrishna Mission Institute of Culture, Calcutta-29, 1992.

१२. Methodology in Indological Research : Dr. Srimannarayana Murti, Bharatiya Vidya Prakashan, Delhi/Varanasi, 1991.

*